मांसभोजनविचार के द्वितीय-भाग का उत्तर

अर्थात्

योधपुर के नामछिपे एक उपदेशक ने मनुस्मृति के मन माने प्रमाणों से मांसभक्षण करना सिद्ध किया था

उस का

अच्छे २ प्रबल पुष्ट युक्ति प्रमाणों द्वारा भीमसेन शर्मा ने उत्तर दिया

और

बाबू पूर्णसिंह वर्मा के प्रबन्ध से

सरस्वतीयन्त्रालय इटावा में छपा

संवत् १९५३ वि० । ता० २५ । १० । ९६

प्रथमबार ५०० पु०

मूल्यप्रतिपु० =)॥

मांसभोजनविचार द्वितीयभाग का उत्तर ॥

"मांसभोजनविचार" नामक पुस्तक राज मारवाड़ स्थान जोधपुर में तीन भाग करके छपा है। मांसभक्षण का विचार (वादविवाद) कुछ काल से ही प्रचरित हो रहा है इसी कारण आर्यसिद्धान्त में भी कई बार लेख छपाया गया। अब इन पुस्तकों पर भी कुछ संक्षेप से समालोचना लिखना अपना कर्त्तव्य काम समझ कर प्रारम्भ करते हैं। पाठक महाशयो! ध्यान देकर देखिये "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" कहावत सिद्ध हो गयी। जिस काम का प्रारम्भ ही अज्ञान वा छलकपटादि से भरा हो उस का शेष व्याख्यान कैसा होगा यह आप स्वयमेव शोच सकते हैं इस के लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं। लोक में एक और भी जनश्रुति-कहावत प्रचरित है कि "ज्ञातं पितुश्च पाण्डित्यं टुडईनामदर्शनात्" किसी मनुष्य ने किसी बालक से पूछा कि तुम क्या पढ़े हो और तुम्हारा नाम क्या है? उस ने कहा कि मैं तो कुछ थोड़ा ही पढ़ा हूं और मेरा नाम टुड़ई है परन्तु मेरे पिता बड़े भारी पण्डित हैं। तब उस विद्वान् ने कहा कि—

ज्ञातं पितुश्च पाण्डित्यं टुडई नामदर्शनात्।

तुम्हारे पिता की पण्डिताई तो टुड़ई नाम देखने से ही ज्ञात हो गयी कि वे ऐसे पण्डित हैं। अर्थात् जिस को

शास्त्र की आज्ञा के अनुसार अपने सन्तान का सुलक्षण नाम तक रखना न आया एक ऊटपटांग बेहूदापन का नाम रख लिया वह क्या पण्डित होगा ? । यही कहावत यहां प्रचरित होती है कि पुस्तक बनाने वाले की पण्डिताई "मांसभोजनविचार" नाम रखने से ही खुल गयी और यह भी स्थालीपुलाकन्याय (बटलोई के एक चावल के टोने से सब के गल जाने का निश्चय हो जाने के समान) से प्रतीत हो गया कि जैसा अज्ञान वा चालाकी इस नाम के रखने में हुई है वैसी पुस्तक भर में होगी । क्योंकि किसी कूप से जैसे गुण वाला जल प्रथम निकलेगा वैसा ही आगे २ निकलना सम्भव है । मांसभोजनविचार–इस नाम में दो प्रकार से अशुद्धि हो सकती है । के तो शुद्ध अशुद्ध का ज्ञान पुस्तकनिर्माता को नहीं अथवा जान कर चालाकी की गयी । पर अधिकांश में चालाकी ही ज्ञात होती है क्योंकि मांस के साथ भोजन शब्द का प्रयोग न तो किसी शिष्ट ग्रन्थ में दीखता और न लौकिक व्यवहार में कोई जानकार प्रयोग करता है इस से सम्भव है कि पुस्तकनिर्माता को यह मालूम हो कि मांस के साथ भक्षणशब्द का प्रयोग आता है फिर भी जानकर कि भक्षण शब्द किसी प्रकार निन्दित वा शिष्टव्यवहार से पृथक् किया हुआ है इसलिये मांस के साथ शिष्टव्यवहार में लाने योग्य भोजन शब्द लगा कर सुधारें । पर यह नहीं सोचा कि जिस की जड़ ही निकृष्ट है वा जो

वस्तु ही निकृष्ट है उस के साथ कैसा ही अच्छा शब्द लगाओ वह कदापि ठीक न होगा। जैसे कोई कहे कि "हलुआ का चर्वण करना" यह वाक्य जैसे असम्बद्ध है वैसे ही मांसभोजन भी जानो। भुज, भक्ष आदि धातुओं के अर्थों में सूक्ष्म भेद है, न तो सब पदार्थों के खाने को भक्षण कह सकते न भोजन किन्तु भिन्न २ पदार्थों के खाने में इन धातुओं का प्रयोग होता है। जो पदार्थ चीमड़ नहीं किन्तु मृदु हैं जिन को दांतों से काट २ कर खाने की आवश्यकता नहीं अर्थात् जिन को विना दांतों वाला भी सुखपूर्वक खा सकता है उन के खाने को भोजन कहते हैं वा वे पदार्थ भोज्य कहाते हैं जैसे दालभात वा दूधभात, हलवा, लपसी, शीरा, खिचड़ी इत्यादि वस्तु भोज्य हैं। रोटी पूरी पुआ मांस आदि भक्ष्य, चटनी आदि लेह्य, आम के फलादि चूष्य और दूध जल आदि पेय वस्तु हैं। इसी लिये मनु के अनेक स्थलों में मांस के साथ भक्षण का प्रयोग किया गया भोजन का कहीं नहीं जैसे—" न मांसभक्षणेदोषो०। तस्माद्दोषस्तु भक्षणे। मांसभक्षयितामुत्र० । मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने" इत्यादि।

जब कि रोटी पूरी आदि के खाने को भी भक्षण कहते वा कह सकते हैं तो वास्तव में भक्षणशब्द का अर्थ निन्दित नहीं परन्तु लोक में किसी कारण वा कभी से शिष्ट लोगों ने भक्षणशब्द को निकृष्ट कोटि में छोड़ दिया है। भखलेना वा भखना यह अपभ्रंश भक्षणशब्द का ही है। तात्पर्य यह है कि मांस के साथ भक्षणशब्द की योग्यता है और भोजनशब्द

लगाना अयुक्त है । जैसे कि भात आदि कोमल वस्तु के साथ चर्वणशब्द लगाना अशुद्ध है । इस लिये "मांसभोजनविचार" लिखना अशुद्ध और "मांसभक्षणविचार" ऐसा नाम रखना शुद्ध है । यद्यपि कहीं २ सामान्यार्थवाचक को विशेषार्थ में और विशेषार्थवाचक को सामान्यार्थ में कोई लोग प्रयोग करते हैं पर वहां ऐसा प्रयोग करने में कुछ कारण भी अवश्य हुआ करता है परन्तु यहां भोजनशब्द का प्रयोग प्रमाद से हुआ हो वा भक्षणशब्द को निन्दित जानकर छोड़ा हो इन दो से भिन्न तृतीय कोई कारण सिद्ध होना दुस्तर है ॥

द्वितीय विचारणीय विषय यह है कि पुस्तक बनाने वाले ने अपना नाम भी छिपाया है अर्थात् प्रथम द्वितीय भागों में लिखा है कि एक उपदेशक ने प्रकाशित किया । शोचना चाहिये कि नाम छिपाने से क्या प्रयोजन है ?। यह प्रसिद्ध है कि अच्छा काम करने वाले को कभी यह विचार नहीं होता कि मुझ को कोई न जान ले किन्तु जगत् में चोरी आदि जितने काम बुरे हैं उन के करने वाले सभी चाहते हैं कि हमें कोई न जान पावे कि अमुक काम अमुक पुरुष ने किया । इस से सिद्ध हुआ कि पुस्तक बनाने वाला भी मांसभक्षण के सिद्ध करने को अच्छा नहीं मानता तथापि स्वार्थवश हो कर करना पड़ा । इसी कारण पुस्तक निर्माता को यह भी भय वा सङ्कोच लगा होगा कि यह विषय वास्तव में तो वेदादि शास्त्र और युक्ति दोनों से विरुद्ध है ही फिर इस का कोई खण्डन अवश्य कर देगा तो लज्जित

होना पड़ेगा । पर यह भी स्मरण रक्खो कि छिप नहीं सकते, खोज करने वाले अनेक हेतुओं से जान लेते हैं वा अनुमान कर लेते हैं कि यह काम अमुक पुरुष ने किया है । इस में मेरा अनुमान और विश्वास है कि यह सब लेख व्याकरणाचार्य जी का है । हम पूछते हैं कि "आपजी ने शिर दे चोटों का डर क्यों करते हैं" प्रसिद्ध क्यों नहीं खड़े होते । अस्तु जो चाहें करें ॥

अब हमारा काम है कि इन पुस्तकों का उत्तर लिखें । अतः द्वितीयभाग का उत्तर लिखना आरम्भ करते हैं । यद्यपि १ । २ भागों के उत्तर की विशेष आवश्यकता नहीं क्योंकि हमारा मुख्य मन्तव्य वेद है उस विषयक तृतीय भाग का ही उत्तर देना मुख्य है तथापि सर्वसाधारण को समझाने के लिये प्रथम सीधा २ उत्तर देकर पीछे वेद के गम्भीराशय का विचार लिखा जायगा । द्वितीय यह भी है कि मनुस्मृति आदि आर्ष पुस्तक भी वेदानुकूल होने से उस अंश में हमारे मन्तव्य हैं इस कारण उनका समाधान करना भी हमारा कर्त्तव्य है तथा पुस्तक-निर्माता ने भी प्रथम द्वितीय भागों को प्रथम छपाया इस लिये भी पहिले इन का उत्तर देना उचित समझा ॥

यद्यपि इस द्वितीयभाग की भूमिका में बहुतसा असम्बद्ध लेख लिखा है उस सब का उत्तर देना हमने व्यर्थ समझा है तो भी निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दिया जाता है यहां किसी

पूर्वपक्षी का नाम नहीं लिखा इस कारण पूर्वपक्षी का सामान्य नाम "मांसाशी" रक्खा जायगा जिसका संकेत (मां०) होगा और उत्तरदाता का (उ०) रहेगा ॥

मांसाशी–मांसखाना पाप है कि नहीं? यदि है तो प्रमाण दें और यह कहें कि यह महापातक है? वा पातक है उपपातक है? यदि इन में से कोई है तो प्रमाण दें। क्या जाति में से इस के खानेवाले को निकाल देना चाहिये यदि चाहिये तो क्या यह जातिभ्रंशक पाप लिखा गया है? यदि लिखा है तो प्रमाण दें। और यदि यह अन्य पापों की तरह पाप है तो इस का इन की तरह प्रायश्चित्त भी कहीं लिखा है यदि लिखा है तो प्रमाण दें ॥

उत्तरदाता–" नहीं " शब्द तुम्हारे मत में रहा। हम स्पष्ट कहते हैं कि मांसखाना पाप है और प्रमाण भी सुनो? (पाठक लोगों को ध्यान रखना चाहिये कि इस द्वितीयभाग के उत्तर में जितने प्रमाण दिये जायंगे वे प्रायः मनुस्मृति के ही होंगे। क्योंकि यहां इसी पुस्तक पर विवाद है) जब मनुस्मृति आदि में अहिंसा को बड़ा धर्म और हिंसा को बड़ा पाप माना है और विना हिंसा किये वा कराये मांस की प्राप्ति होती नहीं तो उस का खाना पाप सिद्ध हो गया तथा स्पष्ट भी लिखा है कि:–

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्त्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकाः॥

मनु० अ० ५ । ५१ मारने की सलाह देने वाला, मरे हुए प्राणियों के शरीर को काटने वाला, मारने वाला, मोल लेने वाला, बेचने वाला, पकाने वाला, परोसने वाला और खाने वाला ये आठ पुरुष घातक हैं अर्थात् हिंसारूप पाप इन आठों को लगता है। मनुस्मृति में ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिन से मांसभक्षण का पाप होना स्पष्ट ही सिद्ध होता है। तथा महाभारत अनुशासनपर्व में लिखा है—

नहि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वापि जायते ।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे ॥

तृण काष्ठ वा पत्थर से मांस उत्पन्न नहीं होता किन्तु किसी जीव को मार कर मांस मिल सकता है इसलिये मांसभक्षण में पाप वा दोष अवश्य है। क्या प्रश्नकर्ता आचार्य जी को इन प्रमाणों से सन्तोष न होगा ?। हमारा प्रश्न भी है कि क्या आचार्य जी के मत में मांसखाना पुण्य है यदि पुण्य है तो प्रमाण दो जैसे कि हमने पाप होने का स्पष्ट प्रमाण दिया। जब मांसभक्षण में पाप नहीं मानते तो अर्थापत्ति से सिद्ध हुआ कि पुण्य है इसलिये पुण्य सिद्ध करने का भार आचार्य जी पर है। मांसभक्षण सब प्रकार के पातकों से बड़ा पातक इस कारण है कि हिंसा बड़ा पाप है किसी के प्राण लेने से अधिक और कोई बड़ा दुःख देना नहीं है हिंसा के विना मांस प्राप्त होता नहीं इस से अत्यन्त उपकारी जीव को

स्वार्थ के लिये मारना महापातक है इस का विशेष व्याख्यान आगे लिखा है। और उपपातक तो स्पष्ट ही मनु ने लिखा है कि गोहत्यादि सब उपपातक हैं और खाने वाला हत्या के दोष में साथी है यह मनु के सिद्धान्त से सिद्ध हो ही चुका। जब मनु० अ० ११ ॥

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम् ॥

इन्धन के लिये हरे वृक्षों का काटना तक उपपातक माना गया तो जीवों की हिंसा क्या उपपातक भी न होगा ?। यद्यपि मनुस्मृति के जातिभ्रंशकर प्रसंग में मांसभक्षण का परिगणन नहीं है तथापि मनुस्मृति के सिद्धान्तानुसार तीन वर्णस्थ धर्मात्मा द्विज पुरुषों की श्रेणी में मांसभक्षण करने वाला नहीं गिना जा सकता क्योंकि मनुने लिखा है कि-

यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ॥

यक्ष राक्षस और पिशाचों का अन्न मद्यमांसादि है। अथवा यों कहो कि मद्यमांसादि के पीने खाने वाले यक्ष राक्षसादि कहाते हैं जिन का खान पान मद्यमांसादि है वे यक्ष राक्षसादि हैं इस कथन से सात्त्विक आहारभोजी आर्य वा देवकोटि के मनुष्यों से इन का निकल जाना स्पष्ट ही सिद्ध है। क्या किसी को कोई घर ग्राम वा देश से बाहर निकाल सकता है किन्तु यह काम राजा का है। क्या मांसभक्षणप्रचारक साधुवेषधारी आदि असाधु लोग आर्यसमाज से निकाल नहीं दिये गये ? अब भी क्या पुस्तक

निर्णीता को सन्देह ही बना है ? । अब और ध्यान देकर सुनिये ! मांसभक्षण पाप अवश्य माना गया इसी लिये भूल से कभी मांस खालेने वाले को प्रायश्चित्त भी मनुस्मृति के अ- ११ में लिखा है-

जग्ध्वा मांसमभक्ष्यं च सप्तरात्रं यवान् पिबेत् ॥
ब्रह्मचारी तु योऽश्नीयान्मद्यं मांसं कथञ्चन ।
स कृत्वा प्राकृतं कृच्छ्रं व्रतशेषं समापयेत् ॥

मांस वा अन्य कुछ अभक्ष्य वस्तु खा लेवे तो सात दिन तक जौ के सत्तू पतले घोल कर पीवे यह प्रायश्चित्त तो गृहस्थ को है क्योंकि ब्रह्मचारी के लिये तो इस से बड़ा प्रायश्चित्त कहते हैं यथा (ब्रह्मचारी तु योऽश्नी०) जो ब्रह्मचारी हो के कदाचित् कभी भूल से भी मद्य वा मांस पी खालेवे वह प्राकृत कृच्छ्रव्रत से विधिपूर्वक प्रायश्चित्त करे तो शुद्ध होता है । आज कल अनेक मांसभक्षण करने वाले लोग वा उन के उपदेशक वा आचार्य भेड़ बकरा को मारना, खाना अपना परम कर्त्तव्य समझते और इन के मांस को सर्वोपरि भक्ष्य मानते हैं सो इन के मारने वा खाने में भी प्रायश्चित्त मनु के अ० ११ में स्पष्ट लिखा है अब कहो एक उपदेशक वा आचार्य जी ! कहां जाओगे ? ॥

खराश्वोष्ट्रमृगेभानामजाविकवधस्तथा ।
सङ्करीकरणं ज्ञेयं मीनाहिमहिषस्य च ॥

गधा घोड़ा ऊंट हरिण हाथी बकरा भेड़ा वा बकरी भेड़ी मछली सांप और भैंसा का मारना "संकर" बनाता है अर्थात् वह मनुष्य जो इन को मारता है किसी वर्ण में रहने योग्य नहीं रहता किन्तु "वर्णसङ्कर" हो जाता है । इस का प्रायश्चित्त—

सङ्करापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम् ॥

जिन को हिंसा से वर्णसङ्करपन का दोष लगता है वे लोग एक महीने भर नियमानुसार चान्द्रायणव्रत से प्रायश्चित्त करें तो शुद्ध हो सकते हैं । यदि कहें कि यहां मांस खाने पर दोष वा प्रायश्चित्त नहीं लिखा तो उत्तर यह है कि जो उपरोक्त मांस खावेगा वह सङ्कर अवश्य है यह ऊपर मनु की सम्मति के अनुसार सिद्ध कर चुके हैं और सङ्करीकरण पर चान्द्रायणव्रत प्रायश्चित्त है तो मांसभक्षी को प्रायश्चित्त सिद्ध हो गया क्योंकि ऊपर लिखे बकरा बकरी आदि का मांस खाने वाला भी (खादकश्चेति घातकाः) के अनुसार बकरा बकरी का घातक वध करने वाला सिद्ध हो गया । अब इन के सब प्रश्नों का उत्तर हो चुका । यदि उपदेशक जी ने मानवधर्मशास्त्र कभी विचारा जाना होता तो ऐसे प्रश्न करने का कभी साहस न करते जिन का उत्तर उसी धर्मशास्त्र में स्पष्ट लिखा है जिस से आप भक्षण सिद्ध करने के लिये उद्योग कर रहे हैं । उपदेशक जी जैसे पण्डितम्मन्यता के अभिमान में बोलते समय अनर्थक असम्बद्ध वा

पुनरुक्त शब्दों का बचाव नहीं कर सकते वैसे लिखने में भी पुनरुक्ति वा अनर्गलता को नहीं बचा सके । सो ठीक ही है धर्मविरुद्ध काम करने वाले का आत्मा वा मन भयभीत वा भ्रान्त हो जाता है । कई प्रश्नों के अन्त में लिख देते कि इन सब का प्रमाण दें । सो प्रमाण दें यह वाक्य चार वार लिखा ॥

इन की भूमिका के अन्त में लिखा है कि "यदि इस विषय पर कोई शङ्का हो तो मुझ से पूछ सकते हैं" कहिये उपदेशक जी ! किन को पूछें आप तो छिप गये । इस पङ्क्ति को लिखते समय आप को यह ध्यान तो रहा ही न होगा कि हम छिप जांयगे तो पूछने वाला किसे पूछेगा । अस्तु—अब आगे इनके लेख का क्रमशः संक्षेप से उत्तर दिया जाता है । मनुस्मृति अध्याय १ ॥

सां० —तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥

नोट—अब विचारिये कि वृक्षादिकों के ज्ञानयुक्त होने पर पशुवध में पाप अधिक क्यों और वृक्ष काटने में क्यों नहीं ॥

उ०—जी हां विचारेंगे । परन्तु हम से ऐसा विचार कदापि न होगा कि चींटी और मनुष्य दोनों ज्ञानयुक्त हैं इसलिये दोनों के मारने में बराबर पाप है यह तो आप की बुद्धि की तीव्रता का परिणाम वा फल है । यदि एक

उपदेशक जो वेदादिशास्त्र वा धर्मशास्त्र जानने का कुछ भी साहस रखते हों तो अब ही सही छिपना छोड़कर प्रथम प्रादुर्भूत हों और मानवधर्मशास्त्र के प्रमाणों से वा किन्हीं युक्तियों से सिद्ध करें कि ब्रह्महत्या और दंशहत्या में बराबर पाप है यदि यह सिद्ध हो गया कि सब प्राणियों के मारने में एकसा ही पाप है तो वृक्षादि को काटने में भी वैसा पाप मानने का आप साहस कर सकते हैं । जगत् में यह अत्यन्त प्रसिद्ध है कि कोई किसी मनुष्य को मार डाले तो राजा उस को फांसी देता और इस काम को इतना बड़ा पाप समझते हैं कि बदले में उसके प्राण ही चले जाते हैं । तथा गौ को मार डाले तो वह वैदिकसमाज भर में ऐसा हत्यारा माना जाता है कि जाति से बाहर कर देते और जब तक वह लोकसम्मत प्रायश्चित्त न कर ले तब तक उस के हाथ का अन्न जल भी कोई ग्रहण नहीं करता । और यदि कोई मनुष्य एक चींटी वा मच्छर को मार डाले तो इतना कम अपराध समझा जाता है कि जिस को कोई यह भी नहीं कहता कि–तुमने हत्या की है तुम पापी हो । सो यह सब लोकचाल धर्मशास्त्र के सिद्धान्त से मिली है केवल इतना भेद है कि प्रायश्चित्त धर्मशास्त्र के अनुसार होना चाहिये किन्तु लोकसम्मत नहीं । क्या एक उपदेशक जी बतला सक्ते हैं कि जैसे गोहत्या उपपातक है वैसे दंश हत्या भी है ऐसा कहीं मनु ने लिखा है ? नहीं । जब लोक

वा शास्त्र के अनुसार दंश मशक मार डालने में इतना कम दोष ठहराया गया कि जिस का नाम पाप ही नहीं रक्खा गया तो वृक्ष वनस्पति आदि के तोड़ने काटने में चींटी दंश आदि के मारने से भी सहस्रों गुणा कम दोष है। फिर वह कैसा वा कितना पाप माना जा सकता है यह विचारशील स्वयं शोच सकते हैं। जगत् में पुण्य पापों के सहस्रों दृष्टान्त ऐसे ही मिल सकते हैं कि अत्यन्त कम दान पुण्य आदि दान पुण्य नहीं कहे जाते। जैसे अन्न का एक दाना किसी को दिया जाय तो उस से किसी का सन्तोषजनक कुछ भी उपकार नहीं इस कारण एक दाना देने वाले की अन्नदाताओं में संख्या न होगी। इसी प्रकार एक दाने का चुराने वाला भी शास्त्र और लोक में चोर नहीं समझा जाता क्योंकि शास्त्र में ऐसे पाप का प्रायश्चित्त कहीं नहीं लिखा गया। तथापि हमारा यह पक्ष नहीं है कि अत्यन्त छोटे पाप पुण्य वास्तव में पाप पुण्य नहीं किन्तु पाप पुण्य अवश्य हैं क्योंकि उन से भी मनुष्यों के संस्कार अवश्य कुछ बिगड़ते सुधरते हैं तथापि सब प्रकार के पाप पुण्यों को बराबर समझना यह बड़ी भारी भूल वा पक्षपात है। इसी प्रकार स्थावर के काटने तोड़ने में इतना कम दोष है जिस को पश्वादि मारने की अपेक्षा कुछ दोष नहीं ऐसा कह सकते हैं। वृक्षादि सब के काटने में भी एकसा पाप नहीं है उस को उपकारादि की न्यूनाधिकता के साथ शोचकर जान लेना चाहिये ॥

मा०—कार्ष्णरौरवबास्तानि चर्माणि ब्रह्मचारिणः।
वसीरन्नानुपूर्व्येण शाणक्षौमाविकानि च ॥

नोट—मांसभक्षण तो हिंसा से प्राप्त होने के कारण पाप है अब विचारना चाहिये कि क्या मृगों का चर्म किसी वृक्ष में लगता है जो विना हिंसा के प्राप्त हो अथवा मृग मृत्यु के पूर्व नोटिस देते होंगे कि हमारी खाल उतार ले जाओ ॥

उ०—"क्या मृगों का चर्म किसी वृक्ष में लगता है जो विना हिंसा के प्राप्त हो" इस वाक्य से एक उपदेशक जी का स्पष्ट आशय यह निकलता है कि यदि किसी वृक्ष में लगता होता तो चाम के उतार लेने में पाप न होता परन्तु इस से पूर्व श्लोक में पश्वादि और स्थावर दोनों के काटने में बराबर पाप ठहरा चुके हैं। अब शोचना चाहिये कि इन का लेख कितना परस्पर विरुद्ध है। यदि कहें कि हम स्थावर में जीव नहीं मानते तो मनुस्मृति के उन श्लोकों को तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी जिन से स्थावर में आत्मा का होना सिद्ध होता है। इन एक उपदेशक जी का मत वा सिद्धान्त क्या है? वा ये टकाधर्मी मात्र ही हैं। क्या ये लोग मृगचर्म का दृष्टान्त देकर अपने तुल्य सब को हिंसक ठहराने का उद्योग करते हैं? कि जैसे हिंसा से मांस प्राप्त होता है इस कारण मांसभक्षण करने वाले पापी हैं वैसे मृग-चर्म ओढ़ने वाले भी पापी हैं यदि ऐसा है तो उपदेशक

जीने मांसभक्षण में हिंसारूप पाप स्वीकार कर लिया। इस दशा में आप बड़े भाई हो गये क्योंकि जन्मभर में जो कोई ब्रह्मचारी बनेगा उस को एक मृगचर्म चाहिये तो एक हिंसा का दोष उसे लगेगा और मांसभक्षक जन्मभर में जितने जीवों का मांस खायेगा उतनी हत्या का दोषभागी होगा। और यदि यह आशय हो कि जैसे मृगचर्म के सम्पादन में पाप नहीं वैसे मांसभक्षण में भी नहीं तब हिंसा को धर्म मानना और ठहराना पड़ेगा और हिंसा को पाप ठहराने वाले मनु आदि के वचन सब दूषित मानने पड़ेंगे। हम पूछते हैं कि आप इतनी दूर क्यों भागे सीधा २ जूते का दृष्टान्त क्यों न दे दिया जिस को प्रायः मनुष्य जन्म से मरण तक धारण करते और उपानद् धारण के लिये धर्मशास्त्र में भी आज्ञा है मृगचर्म तो ब्रह्मचारी बने उस को एक समय काम लगता है। अब हम यह दिखाते हैं कि चर्म से काम लेने वाले यदि चाहना करें कि हम किसी जीव को स्वयं मारें वा मरवावें जिस से हम को चर्म प्राप्त हो ऐसी दशा में मृगचर्म क्या किसी काम के लिये जिस को चाम की चाहना हो वह मनुष्य हिंसारूप पाप का भागी अवश्य होगा। यदि वह चर्मसे काम लेने के लिये किसी को हिंसा करना कराना नहीं चाहता तो वह निर्दोष है क्योंकि जगत् में जितने प्राणी उत्पन्न होते वे मरते भी अवश्य हैं उस समय उन मृतशरीरों में जो २ वस्तु उपकारी है उस से काम

लेना यह मनुष्यों का कर्त्तव्य है । क्या गौ आदि पशु मरने से पूर्व किसी को नोटिस देते हैं कि जूते आदि के लिये हमारा चर्म लेजाओ ? किन्तु चर्मकार लोगों की जीविका है इस कारण जहां मृतपशु देखेंगे झट चर्म उतार लेंगे इसी प्रकार जंगली मनुष्य जिन का जंगलों में फिरना वा रहना स्वभाव सिद्ध है वे अपनी जीविका के अर्थ मृतमृगों का चर्म उतार कर ग्राम वा नगरादि में भी बेंच जाते हैं इस से किसीको भी कुछ पाप नहीं हो सकता । यदि कोई अपनी जीविका बढ़ाने के लिये मृगों को मार २ कर चर्म बेंचे तो भी वह मारने वाला पापी होगा किन्तु मृगचर्म से काम लेने वाला ब्रह्मचारी हिंसा से प्राप्त होने की इच्छा न रखने से पापी नहीं यदि कोई मांसाहारी कहे कि हम भी हिंसा से मांस प्राप्त होने की इच्छा नहीं रखते । बेंचने वालों से मोल ले कर खाते हैं तो दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि मांसाहारी सब जानते हैं कि आज ही के मारे हुए का यह मांस है और खाने वालों के लिये ही प्रतिदिन प्राणी मारे जाते हैं । यदि स्वयं मरे हुए प्राणियों का मांस खाने की भी चाल होती तो यह दृष्टान्त घट जाता सो जहां तक दृष्टि डालो वहां तक स्वयं मरे प्राणियों का मांस खाना प्रायः सभी बुरा समझते हैं । यदि मांसाहारियों को ज्ञात हो कि यह स्वयं मरे प्राणियों का मांस है तो कदापि न खावेंगे इस से सिद्ध हुआ कि वे नित्य नये प्राणियों की

हिंसा कर करा के मांस खाना चाहते हैं इस कारण पापी अवश्य हैं ।

मां०--भक्ष्यं भोज्यं च विविधं मूलानि च फलानि च । हृद्यानि च मांसानि पानानि सुरभीणि च

भक्ष्य, भोज्य, मूल, फल, हृद्य को प्रिय मांस और सुगन्धित पीने योग्य ओषधि रस ये सब श्राद्ध में निमन्त्रित ब्राह्मणों के आगे रक्खे । नोट—यह सब पदार्थ श्राद्ध में ब्राह्मणों के भोजनार्थ लिखे हैं जो जगत् गुरु थे और हैं ।

उ०—इस पर विशेष उत्तर की आवश्यकता नहीं जब मनुस्मृति के अनेक स्थलों में हिंसा को अधर्म ठहराया, भिन्न २ प्राणियों की हिंसा में भिन्न २ प्रायश्चित्त लिखे और "यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्" मद्य मांस आदि यक्ष राक्षस पिशाचों का अन्न बताया फिर वह मद्यमांसादि जगद्गुरु ब्राह्मणों का अन्न होगा तो वे भी राक्षस पिशाचों में क्यों नहीं गिने जायगे ? । ऐसे मांसभक्षी ब्राह्मण जगद्गुरु कदापि नहीं हो सकते हां मांसाशियों में गुरु भले ही बने रहें जगत् में तो लोभ के कारण मांसभक्षण का प्रचार करने से लघु हो जाते हैं । यदि अपने शरीर में अन्य के मांस से मांस बढ़ाकर वा पास में कुछ धन का बोझा मानकर अपने को गुरु (भारी) मानते हों तो यह ठीक है । भला मनु वा भृगु जैसे विद्वान् इधर हिंसा को

पाप बतावें मांसभक्षी को राक्षस पिशाच कहें और मांसभक्षण में प्रायश्चित्त दिखावें और उधर मारने खाने की आज्ञा भी देदें यह कभी सम्भव है? कदापि नहीं। फिर भी श्राद्ध जैसे धर्मसम्बन्धी काम में यजमान को पहिले ही हिंसारूप पाप का भागी बनावें पीछे सर्वगुरु भी पापी हों। जहां २ परस्पर विरुद्ध दो कथन हों वहां एक ही सत्य ठहर सकता है। सो यहां मांस की आज्ञा मनु का वचन नहीं किन्तु प्रक्षिप्त है और हिंसा को अधर्म मानना मांसभक्षण पर प्रायश्चित्त कहना वा मांसभक्षी का राक्षसादि नाम रखना यह मनुस्मृति के सिद्धान्त के अनुकूल और सर्वशास्त्रसम्मत होने से मन्तव्य है। यदि आचार्य जी धर्मशास्त्र को जानने समझने का साहस रखते हैं तो इसी मनुस्मृति से हिंसा को धर्म सिद्ध कर दें और मांसभक्षण के प्रायश्चित्त को मिथ्या ठहराने का उद्योग करें। बड़े आश्चर्य का स्थान है कि ऐसा युक्तिप्रमाणों से शून्य लेख करते समय इन लोगों को लज्जा भी नहीं आती और मांसभक्षण को धर्मानुकूल मानकर भी "हम आर्यसामाजिक हैं" ऐसा मानने वालों से यह भी प्रष्टव्य है कि मृतक श्राद्ध को भी क्या आप मांस के लालच से मानने लगो गे? क्योंकि जिन श्राद्ध विषयक श्लोकों में मांस का विषय है उन का अर्थ जीवित में न घटेगा तो यही मार्ग दीखेगा। लोभः किंन्न कारयति? ॥

मां०—द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन्मासान् हारिणेन तु । औरभ्रेणाथ चतुरः शाकुनेनाथ पञ्च वै ॥

मच्छी के मांस से दो महीने, हरिण के मांस से तीन मेढ़ा के मांस से चार और पक्षियों के मांस से पांच महिने तक पितर तृप्त हो जाते हैं । इत्यादि पांच श्लोक इसी प्रकार के लिख कर सब के अन्त में—

नोट—यहां भोजन करने वाले ब्राह्मणों की तृप्ति होने से अभिप्राय है न कि मरों से, विश्वास न हो तो खा देखो ॥

उ० अभीतक हम को एक भ्रम था कि उपदेशक जी मृतक के श्राद्ध का भी प्रतिपादन करना स्वीकार करेंगे सो सन्देह मिटगया । परन्तु विचारशील लोग मेरी बात का ध्यान रक्खें कि मृतक का श्राद्ध न मानना यह भीतरी नहीं है किन्तु ऊपर से है अवसर देख कर ये सभी कुछ पोपलीला सिद्ध करेंगे । पूर्व श्लोक में जो विरोध दिखाया गया उस के अनुसार तो ये मांस के पिण्ड की प्रशंसा के श्लोक प्रक्षिप्त हैं ही यह सब लोग जान सकते हैं । मांस के पिण्ड खाने वाले ब्राह्मणों की तृप्ति होती है यह कहना महा अज्ञान है क्योंकि इन्हीं श्लोकों के आगे इसी प्रकरण में लिखा है कि—“ तत्पितृणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ” श्राद्ध के साथ विधिपूर्वक जो कुछ पितृयों के लिये देता है वह २ उन परलोकगामी पितृयों को अक्षय फलकारी होता है ।

इस में जब परलोक में जो पितृ हैं ऐसा स्पष्ट कह दिया तब यह कट गया कि "भोजन करने वाले ब्राह्मणों की तृप्ति से अभिप्राय है" "विश्वास न हो तो खा देखो" इस लेख से प्रतीत होता है कि एक उपदेशक महाशय ने खाकर अनुभव कर लिया होगा कि किसी मच्छी का मांस खाने से दो महीने की और किसी मच्छी के मांस से १२ बारह वर्ष की तृप्ति होती है। इस में प्रथम तो हम को यही सन्देह है कि तृप्ति होने से क्या अभिप्राय है। यदि यह आशय है कि उतने दिनों तक भूख नहीं लगती तो इस पर हमें तब विश्वास हो सकता है कि यदि उपदेशक जी छः महिने हमारे वा किसी अन्नाहारी आर्य के पास रहैं और एक दिन उन को जितना खायें बकरे का मांस खिला दिया जाय फिर छः महीने तक कुछ भी वस्तु खाने को न मिले और छः मास तक उपदेशक जी की तृप्ति बनी रहे भूख न लगे। परन्तु स्मरण रक्खें कि हर बार पहरा मौजूद रहेगा जिस से कोई वस्तु छिपा कर भी न खालें यदि छः महीने की इस परीक्षा में उपदेशक जी उत्तीर्ण हो गये तो महामांसाचार्य की पदवी दी जावेगी। यदि कोई कहे कि ऐसी असम्भव बात धर्मशास्त्र में क्यों लिखी तो उत्तर यह है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण ही तो हम उक्त श्लोकों को प्रक्षिप्त ठहराते हैं कि वे श्लोक मनु वा भृगु के बनाये नहीं किन्तु किसी मांसाहारी स्वार्थी ने पीछे

से बना कर मिला दिये हैं। इस वर्त्तमान समय में सहस्रों मनुष्य मछली वा बकरे आदि का मांस प्रतिदिन खाते हैं और नित्य २ उन को भूख भी लगती है छः महीना तो अधिक समय है किन्तु कोई मांसाहारी जब छः दिन भी तृप्त नहीं रह सकता तो उक्त श्लोकों के मिथ्या होने में क्या शङ्का रही। आशा है कि पाठक लोग आचार्य जी से पूछें कि आप हम को विश्वास कराना चाहते हो तो एक दिन बकरे का मांस खाकर छः महीने तक निराहार तृप्त रहकर दिखा दये ॥

तथा एक और भी असम्भव बात लिखी है कि गोदुग्ध के खोया वा खीर के पिण्डों से बारह वर्ष की तृप्ति और कालशाक महाशल्क और मुण्डकों से अनन्त समय तक तृप्ति हो जाती है। जो शाक जिस समय सृष्टि क्रमानुसार उत्पन्न होता वही कालशाक है जैसे माघ पौष में मूली वा सरसों आदि का शाक तथा वसन्त ग्रीष्म में सोया मेथी आदि का। उन २ शाकों को उबाल कर उस २ समय पिण्ड दिये जायं तो अनन्त काल तक तृप्ति हो जाती है। और इस से अधिक तृप्ति महाशल्क मत्स्य को छोड़ अन्य किसी जीव के मांस में भी न रही यदि मांसाहारी लोग वा उन के आचार्य जी इस लेख को सत्य मानते हैं तो शाक से अधिक गुण मांस में मानना अवश्य छोड़ देंगे। हम तो खोया वा खीर से भी शाक में बहुत कम गुण मानते हैं और यह

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध कर सकते हैं कि शाकों की अपेक्षा गोदुग्ध वा खीर में बहुत अधिक गुण हैं क्योंकि घास वा शाकों का सार निकला हुआ गोदुग्ध है इत्यादि कारणों से मांसपिण्ड विषयक उक्त श्लोक मिथ्या हैं किसी स्वार्थी मांसाहारी ने प्रामाणिक पुस्तक में मिला दिये यही निश्चय है॥

मां०-नानिष्ट्वा नवसस्येष्ट्या पशुना चाग्निमान् द्विजः । नवान्नमद्यान्मांसं वा दीर्घमायुर्जिजीविषुः ॥ म० अ० ४

दीर्घ आयुपर्यन्त जीवन की इच्छा वाला अग्निहोत्री द्विज आग्रयण यज्ञ किये विना नवीन अन्न का और पशु यज्ञ किये विना मांस का भक्षण न करे ॥

नो०-संसार में कोई नवीन वा उत्तम पदार्थ विना मित्र बन्धु गुरु पूज्यपुरुषों के खिलाये खाना वा ईश्वर को स्मरण किये विना खाना असभ्यता वा नीचता है अतः मनु जी का लेख सार्थक है ॥

उ०-यह चौथे अध्याय का २७ सत्ताईसवां श्लोक है इस से पूर्व २५ वें श्लोक से गृहस्थ के लिये नित्य नैमित्तिक यज्ञ करने की आज्ञा दीगयी है इस कारण २५ वां श्लोक विधिवाक्य है उसी पर प्रसङ्ग देख कर किसी स्वार्थी मांसाहारी ने यह अर्थवाद गढ़ कर मिलाया है । आचार्य जी ने कभी मीमांसाशास्त्र भी कदाचित् देखा हो पर अनुमान नहीं

होता क्योंकि विधि वा अर्थवाद को वे नहीं जानते कि धर्मशास्त्रों में कौन विधिवाक्य तथा कौन अर्थवाद हैं तथा किस विधिवाक्य का कौन अर्थवाद है । अर्थात् पूर्वोक्त (नानिष्ट्वा०) श्लोक को आपने विधिवाक्य मान लिया है तभी तो यहां प्रमाण में लिखा विना विधिवाक्य के अर्थवाद का स्वतन्त्र कहीं प्रमाण हो ही नहीं सकता । इसलिये यह बड़ा अज्ञान है। इस से पूर्व (अग्निहोत्रं च जुहुयात्०) विधिवाक्य में केवल यज्ञ करने की आज्ञा दीगयी है खाने पीने का कुछ नाम भी नहीं किन्तु अर्थवाद वाले ने कल्पना कर के मान लिया है सो यह प्रक्षिप्त वा प्रामादिक होने से मिथ्या है । इस का विशेष विचार मानवधर्ममीमांसा भूमिका में हो चुका है इस लिये यहां लिखना पुनरुक्त है । यदि उपदेशक जी मांसभक्षण को दीर्घायु होने का कारण ठहराना चाहते हैं तो इस का उत्तर दें कि आज तक मांसभक्षण करने वाले दीर्घायु क्यों नहीं हुए ? । अब तक न हुए तो आगे भी ऐसा होना असम्भव है। नोट में भावार्थ निकालना जैसा आचार्य जी को आता है ऐसा कदाचित् ही किसी को आता हो । श्लोक में केवल यह आशय है कि विना यज्ञ किये कुछ न खावे इस पर आप लिखते हैं कि "मित्र बन्धु गुरु पूज्य पुरुषों को खिलाये विना नया अन्न और मांस खाना असभ्यता वा नीचता है" । मैं पूछता हूं कि आप भ्रष्ट हुए तो हुए औरों को भी न छोड़ोगे ? ।

अपने पूज्य वा गुरु लोगों को भी मांसाहारी बनाना चाहिये यह इन का उद्योग है सो व्यर्थ है क्योंकि मांसभक्षण को बुरा समझने वाले तुम्हारा साथ ही छोड़ देंगे उन को तुम मित्र बन्धु वा गुरु बना ही नहीं सकते और मांसभक्षण को अच्छा समझने वाले स्वयमेव खा सकते हैं उन को तुम क्या खिलाओगे ॥

मां० शय्यां गृहान् कुशान् गन्धानपः पुष्पं मणीन्दधि । धाना मत्स्यान् पयो मांसं शाकं चैव न निर्णुदेत् ॥ २५ ॥

अनायास प्राप्त हुए शय्या आदि का प्रत्याख्यान (नाहीं) न करे किन्तु ग्रहण करले ॥

मो०-सृष्टि नियमानुसार उत्तम पदार्थों का त्याग मूर्खता है सो मांस के दुग्धादिवत् अत्युत्तम पदार्थ होने के कारण उस के त्याग का सर्वथा निषेध है ॥

उ०-यद्यपि इस श्लोक के अक्षरार्थ में उपदेशक जी ने कुछ अपना नोन मिर्च नहीं मिलाया तथापि भावार्थ में मांस को दुग्धादि के तुल्य उत्तम कहे विना भी कल न पड़ी अर्थात् जो पदार्थ वास्तव में उत्तम है उस को कोई उत्तम ठहराने का उपाय न करे तो भी वह कभी निकृष्ट नहीं होता प्रायः निकृष्ट को ही उत्तम ठहराने का उद्योग किया जाता है । अब यहां शोचना चाहिये कि इस पूर्वोक्त

मनु जी के श्लोक का क्या अर्थ वा अभिप्राय है। मानवधर्ममीमांसाभूमिका में इस का विचार लिख दिया है कि (शय्यां०) यह २५० वां श्लोक प्रक्षिप्त है। वहां का आशय यह है कि (एधोदकं० २४७) श्लोक से यह प्रकरण चला है कि विना मागे अनायास देने वाले निषिद्ध वा नीच से भी इंधन जल आदि वस्तु ले लेवे किन्तु नकार न करे। यह विचार दो श्लोकों में सामान्य विशेष कर समाप्त हो गया। पश्चात् २४९ में (नाश्नन्ति०) श्लोक से कहा अर्थवाद ऊटपटांग है क्योंकि जिस के स्वीकार करने का विधान कर दिया उस दशा में उस का निषेध करना अर्थापत्ति से ही अच्छा नहीं ठहर सकता। परन्तु कोई निषेध करे तो ऐसा बुरा भी नहीं है कि न लेने वाला पापी हो जावे क्योंकि "प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते" इस कथन से मनु जी ने ही सिद्धान्त कर दिया है कि किसी वस्तु के ग्रहण करने की अपेक्षा उस का त्याग कर देना कई अंश में उत्तम है। परन्तु जो स्वयं याचना करके नीचादि से भी सब वस्तु ले लेता है उस की अपेक्षा विना मागे अनायास प्राप्त हुए इंधनादि का ग्रहण कर लेने वाला उत्तम है यह विधिवाक्य का आशय ठीक २ शास्त्र के सिद्धान्तानुकूल घट जाता है इसलिये निन्दारूप अर्थवाद अयुक्त है। पश्चात् (शय्यां०) श्लोक की कुछ आवश्यकता नहीं। जो वस्तु ग्राह्य हैं उन का विधान सामान्य भिक्षा के विधान में आ

हो जायगा । और मनु के सिद्धान्त से विरुद्ध है क्योंकि ११ वें अध्याय में लिखा है कि "तद् ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः" जो यक्ष राक्षस पिशाचादि का भक्ष्य मद्यमांसादि है वह यज्ञ शेष के हविष्यभोजी ब्राह्मण को कदापि न खाना चाहिये । और मांस में हिंसारूप बड़ा अधर्म भी शास्त्र सम्मत है फिर उस का ग्रहण करना वही शास्त्र कैसे कहेगा ? । इस कारण यह श्लोक प्रक्षिप्त है यह तो मुख्य सिद्धान्त हुआ । अब एक बात और भी विचारणीय है कि यदि श्लोक प्रक्षिप्त न ठहरता और किसी प्रकार कोई हठ करे तो भी उपदेशक जी का कोई प्रयोजन इस से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि उपदेशक जी का साध्य पक्ष मांसभक्षण मनु के प्रमाण से सिद्ध करना है न कि मांस का ग्रहण, अर्थात् भक्षण और ग्रहण में बड़ा अन्तर है यदि ग्रहण भक्षण का एक ही अर्थ हो तो खट्वा घर वा कुश आदि का भी खाना आजावे सो ठीक नहीं मांस के ग्रहण कर लेने की आज्ञा आजाने से ब्राह्मण को वा द्विजाति मात्र को मांसखाना चाहिये यह आज्ञा कदापि नहीं आ सकती क्योंकि जैसे अन्य युक्ति वा प्रमाणों से कुशादि का भक्ष्य न होना सिद्ध हो जाने पर कुशादि का ग्रहण भक्षण के लिये नहीं मान सकते वैसे ही अन्य युक्ति प्रमाणों से मांस मनुष्य का भक्ष्य सिद्ध न होने पर उस का ग्रहण भी भक्षण के लिये नहीं यही मानना चाहिये । तथापि कोई कहे कि फिर मांस का ग्रहण

किस लिये किया गया ? सो इस का उत्तर यह है कि मांसाहारी कुत्ते वा अन्य असुर प्रकृति मनुष्यादि को ग्रहण कर के दे देवे कि जिस का भक्ष्य मांस हो । इत्यादि प्रकार इस मनु के श्लोक से इन उपदेशक जी का पक्ष कुछ भी सिद्ध नहीं होता केवल अज्ञानवश हो कर कागज़ काला किया है ॥

मां० मनु० अ० ५ श्लोक ११–२३

क्रव्यादान् शकुनीन्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः ।
अनिर्दिष्टांश्चैकशफांष्टिट्टिभं च विवर्जयेत् ॥११॥

मांसाहारिपक्षियों, ग्राम नगर में रहने वाले पक्षियों, भक्ष्यों में न गिनाये एक खुर वाले गर्दभ आदि पशुओं और टिट्टिभ–[टिटहरी] नामक पक्षी को न खावे ॥ ११ ॥

कलविङ्कं प्लवं हंसं चक्राह्वं ग्रामकुक्कुटम् ।
सारसं रज्जुवालं च दात्यूहं शुकसारिके ॥ १२ ॥

चिड़िया, जलकौवा, हंस, चकवा, ग्राम नगर का मुरगा, सारस, बड़ी गुदी का जल के पास रहने वाला जन्तु, पपीहा, तोता और मैना भी अभक्ष्य हैं ॥ १२ ॥

प्रतुदान् जालपादांश्च कोयष्टिनखविष्किरान् ।
निमज्जतश्च मत्स्यादान् सौनं वल्लूरमेव च ॥१३॥

चोंच से तोड़ २ जीवों को खाने वालों, उड़ते २ पंजों से जीवों को पकड़ ले जाने वाले चील्ह आदि, कोयष्टि नामक पक्षी, नखों से खोद २ जीवों को खाने वालों, जल में

डूब कर मछली आदि को पकड़ने वालों, कसावखाने के मांस और सूखे मांस को न खावे ॥ १३ ॥

वकं चैव बलाकां च काकोलं खञ्जरीटकम् ।
मत्स्यादान् विड्वराहांश्च मत्स्यानेव च सर्वशः ॥

बगुला, बतक, काकोल, खञ्जन, मछली खाने वालों, विष्ठा खाने वाले सूकरों और सम्पूर्ण मच्छियों को न खावे ॥१४॥

यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसादउच्यते ।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान्विवर्जयेत् ॥

जो जिस के मांस को खाता वह तन्मांसाद कहाता [जैसे अश्वाद, सूकराद आदि] पर मछली खाने वाला सब का मांस खाने वाला है क्योंकि मछली सब कुछ खाती है ॥१५॥

पाठीनरोहितावाद्यौ नियुक्तौ हव्यकव्ययोः ।
राजीवान् सिंहतुण्डांश्च सशल्कांश्चैव सर्वशः ॥१६॥

पाठीन, रोहू, राजीव, सिंह के से मुख वाली और त्वचा वाली मछलियां होम श्राद्ध में उपयुक्त की जाने के कारण भक्ष्य हैं ॥ १६ ॥

न भक्षयेदेकचरानज्ञातांश्च मृगद्विजान् ।
भक्ष्येष्वपि समुद्दिष्टान् सर्वान् पञ्चनखांस्तथा ॥

सामान्य कर भक्ष्यों में गिनाये भी एकाकी विचरने वाले सर्पादि, अज्ञात मृगों और पक्षियों तथा सब पांच नख वाले वानरादि को न खावे ॥ १७ ॥

श्वाविधं शल्यकं गोधां खड्गकूर्मशशांस्तथा ।
भक्ष्यान् पञ्चनखेष्वाहुरनुष्ट्रांश्चैकतोदतः ॥१८॥

सेही, कांटे से रोम वाले, गोह, गेंडा, कछुआ और खरहा ये पांच नख वालों में से भक्ष्य हैं तथा ऊंट को छोड़ के एक ओर दांतों वाले अन्य पशु भी भक्ष्य हैं ॥ ॥१८ ॥

छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या जग्ध्वा पतेद्द्विजः १९

कठफूल, विष्ठाभक्षी सूकर, लहसुन, ग्राम का मुरगा, प्याज, गाजर इन सब को समझपूर्वक खाने से द्विज पतित हो जाता है ॥ १९ ॥

अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सान्तपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायणं वापि शेषेषूपवसेदहः ॥२०॥

इन पूर्वोक्त कठफूल आदि छहों को भूल से खा लेवे तो द्विज पुरुष कृच्छ्र सान्तपन वा यतिचान्द्रायण व्रत करे । तथा छः से भिन्न अभक्ष्य वस्तु भूल से खा लेवे तो एक दिन केवल उपवास करलेवे ॥ २० ॥

संवत्सरस्यैकमपि चरेत् कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥२१॥

भूल से अभक्ष्य भक्षण किये की शुद्धि के लिये तथा जानकर अभक्ष्य भक्षण की विशेष शुद्धि के लिये वर्ष भर में

द्विज को कम से कम एक कृच्छ्रप्राजापत्य व्रत अवश्य करना चाहिये ॥ २१ ॥

यज्ञार्थं ब्राह्मणैर्वध्याः प्रशस्ता मृगपक्षिणः ।
भृत्यानां चैव वृत्त्यर्थमगस्त्यो ह्याचरत्पुरा ॥२२॥

यज्ञ के लिये ब्राह्मणों को अच्छे २ मृग और पक्षी मारने चाहिये क्योंकि स्त्री पुत्रादि के पालनार्थ अगस्त्य ऋषि ने भी पूर्वकाल में मृग तथा पक्षी मारे थे ॥ २२ ॥

बभूवुर्हि पुरोडाशा भक्ष्याणां मृगपक्षिणाम् ।
पुराणेष्वृषियज्ञेषु ब्रह्मक्षत्रसवेषु च ॥२३ ॥

प्राचीन काल में हुए ऋषियों के यज्ञों तथा ब्राह्मण क्षत्रियों के यज्ञों में भक्षण योग्य मृग पक्षियों के पुरोडाश हुए हैं इस से भी यज्ञ के लिये ब्राह्मणों को अच्छे २ मृग पक्षी मारने चाहिये ॥ २३ ॥

ये ११–२३ तक श्लोक यथाक्रम यहां इस लिये लिख दिये हैं कि जिस से इन तेरहों श्लोकों पर जो कुछ हम अपनी सम्मति लिखें उस को पाठक लोग सुगमता से समझ सकें। शोचने का स्थान है कि इस पांचवें अध्याय के दशवें श्लोक में बासे धरे रहने से खटाये पदार्थों में से दही और दही से बने पदार्थों को भक्ष्य कहा है जैसे पांचवें अध्याय का दशवां श्लोक यह है—

दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु सर्वं च दधिसम्भवम् ।
यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः ॥१०॥

अर्थ—बासे धरे खटाये हुए वस्तुओं में दही, दही से बने कढ़ी आदि तथा पुष्पमूल और फलों से यन्त्र द्वारा खींचे हुए आसव [अरक] धरे हुऐ बासे भी भक्ष्य हैं ॥१०॥ और चौबीशवें श्लोक को देखिये–

यत्किञ्चित्स्नेहसंयुक्तं भक्ष्यं भोज्यमगर्हितम् ।
तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥२४॥

जो कुछ पूड़ी आदि भक्ष्य वा हलुआ आदि भोज्य अधिक चिकनाई से युक्त होने के कारण धरे रहने पर भी बिगड़ा निन्दित न हुआ हो तथा होम से बचा यज्ञ का शेष धरा हुआ भी पदार्थ भक्ष्य है। तात्पर्य यह है कि एक दो दिन धरे रहने से कौन २ वस्तु अधिक हानिकारक वा स्वाद रहित होने से अभक्ष्य हो जाते और कौन २ भक्ष्य बने रहते हैं इसी एक विषय का वर्णन दशवें श्लोक से २४ में कहा स्पष्ट मिलता है। ११—२३ तक विना प्रसंग ही दूसरे विषय का वर्णन चलादिया यदि ये बीच के श्लोक छोड़ दिये जावें तो १० के साथ २४ का ठीक २ मेल मिल जाता है। इस से सिद्ध हुआ कि ११—२३ तक श्लोक पांचवें अध्याय में पीछे मिलाये गये हैं और जब इन श्लोकों का पीछे मिलाना सिद्ध हो गया तो इन का और कुछ उत्तर देना

आवश्यक नहीं क्योंकि वे श्लोक ही मानवधर्मशास्त्र के नहीं हैं जैसे हम ने इन को प्रक्षिप्त ठहराया वैसे हमारे प्रतिपक्षी का काम ठीक ठहराना है ॥

और भी विचारणीय है कि पन्द्रहवें श्लोक में मछली खाने वाले की निन्दा की गयी कि "मुर्दा मल मूत्रादि सब कुछ मछली खाती है इस से मछली को खाने वाला सर्वभक्षी है" फिर सोलहवें श्लोक में पाठीन आदि कई मछलियों को कि जिन को मछली खाने वाले लोग अच्छी मानते हैं यज्ञ के बहाने से भक्ष्य ठहराया पर शोचने का स्थान है कि पाठीन रोहू आदि भी सब कुछ खाती हीं हैं फिर यज्ञ का बहाना रचने पर भी सर्वभक्षी होने का दोष कहां निवृत्त हुआ ? अर्थात् श्लोक मिलाने वाले ने मछली खाने वालों को प्रिय मछलियों के भक्षण का दोष निवृत्त करने का उद्योग तो अवश्य किया पर हो न सका । तथा २२ बाईसवें श्लोक में यज्ञ को साथ लेकर अगस्त्य का इतिहास लिखा कि अगस्त्य ऋषि ने भी भृत्यों की रक्षा के लिये मृग पक्षियों को मारा था । अब शोचिये तो सही कि अगस्त्य ने तो स्त्री पुत्रादि के पालनार्थ मारा और ब्राह्मण लोग यज्ञ के लिये मारें यह दृष्टान्त ठीक कहां लगा ? और मुख्य विचारणीय यह है कि यदि यह सनातन वेदोक्त प्रथा होती कि यज्ञ में पशुवध किया जाय तो इस को पुष्ट करने के के लिये ऐसे निर्बल उद्योग क्यों रचे जाते । सत्य यथार्थ

को सिद्ध करने के लिये अधिक थोपथाप करने की कुछ आवश्यकता नहीं होती । २२ । २३ । दोनों श्लोक से इन्हें २ समाधान किया है । वास्तव में शोचा जाय तो पहिले कभी किसी सत्पुरुष ने किया है वह सब अच्छा ही हो यह कोई नियम नहीं है । राजा युधिष्ठिर बड़े सत्यवादी ने जानकर एक बार मिथ्या भाषण किया तो क्या मिथ्या भाषण कर्त्तव्य धर्म हो गया? कदापि नहीं इत्यादि कारणों से ११–२३ तक पांचवें अध्याय के श्लोक अवश्य प्रक्षिप्त हैं। और जब प्रक्षिप्त होना इन श्लोकों का सिद्ध होगया तो मांसभक्षण वालों को फिर और क्या उत्तर देवें । मांसोपदेशक का प्रारब्ध ही ऐसा है कि उन को प्रमाण मिले वे भी प्रक्षिप्त कूरा कर्कट ही निकले ।

अब एक बात यह है कि ११–२३ श्लोकों में से एक १५ वां तथा १९ । २० । २१ श्लोक मांसोपदेशक ने छिपाये हैं अपने द्वितीय भाग में नहीं लिखे कारण यह प्रतीत होता है कि उन श्लोकों में मछली खाने वाले को सर्वभक्षी बुरा कहा है और १९–२१ तक में ग्राम के सुअर मुरगादि के खाने में पतित होना और प्रायश्चित दिखाया है सो मांसपार्टी के लोगों का उन श्लोकों से खण्डन होता था । मांसोपदेशक जीने शोचा होगा कि हमारे दल में सब प्रकार के मांसभक्षी हैं यदि मत्स्यभक्षण में दोष दिखाते और मुर्गी आदि खाने वालों को प्रायश्चित्तीय अपराधी लिखते तो मांसोपदेशक जी पूर्व ही दोनों दीन से जाते घर के होते न घाट के ॥

मा० — एतदुक्तं द्विजातीनां भक्ष्याभक्ष्यमशेषतः ।
मांसस्यातः प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणवर्जने ॥२६

अ० — यह सम्पूर्ण द्विजातियों का भक्ष्य और अभक्ष्य मैं ने कहा इस से आगे मांस के भक्षण और त्याग में विधि कहूंगा ।

उत्तर — लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ।

यह बहुत सत्य है कि अन्धे को दर्पण रूप नहीं दिखा सकता इसी प्रकार विचारशून्य स्वार्थी पक्षपाती को शास्त्र से कुछ लाभ नहीं हो सकता । शोचने का स्थल है उपदेशक जी ! अभी तो आप मांसभक्षण को पांचवें अध्याय के ११ वें से २३ वें श्लोक तक से ही सिद्ध करते आते हो फिर अब कहने लगे कि इस से आगे मांसभक्षण के विधि निषेध कहूंगा । क्या यह लेख प्रमत्तवाक्य के तुल्य नहीं है ? कि जिस बात को पहिले ही से कह रहे हो उस की समाप्ति में कहने लगो कि अब इस को कहूंगा । क्या अपने के ही समान मनु के वचन को भी अपनी अज्ञानता से प्रमत्तवाक्य ठहराना चाहते हो ? सो यह आप का प्रयत्न सूर्य पर धूलि फेंकने के समान है मनु महर्षि वेदपारङ्गत महात्मा थे उन के कथन में ऐसा बड़ा दोष कदापि नहीं हो सकता । अस्तु अब विचारना चाहिये कि (एतदुक्तं०) इस श्लोक का

क्या अभिप्राय है । तुम्हारे मत से यदि ये ११-२३ श्लोक प्रक्षिप्त
नहीं हैं तो जब इस से पूर्व मांसभक्षण विषयक विधि निषेध
दोनों कह चुके हैं तो यह कहना तो कभी नहीं बन सकता
कि अब आगे मांसभक्षण के विधि निषेध कहेंगे तब क्या
अर्थ है सो सुनिये !

भक्षणस्य वर्जनं भक्षणवर्जनं तस्मिन् भ-
क्षणवर्जने ।

अर्थात् भक्षण का वर्जन के साथ षष्ठी तत्पुरुषसमास
करना चाहिये । द्वन्द्व समास करने से शब्दों का एकवचन
मानने में भी कुछ कल्पना उपदेशक जी को करनी पड़ेगी
क्योंकि द्वन्द्व समास में नियमानुसार द्विवचन विभक्ति का
प्रयोग होना चाहिये । तथा पूर्वोक्त दोष भी ऐसा अर्थ
होने पर हट जायगा । क्योंकि इसी प्रतिज्ञा के अनुसार
अगला प्रकरण भी ठीक लग जायगा केवल प्रक्षिप्त श्लोक छोड़
कर प्रकरण मानना चाहिये । तब यह अर्थ स्पष्ट हो गया
कि यहां तक तो लशुनादि के त्याग और दधि शुक्तादि के
भक्षण दोनों विषय में कहा पर अब आगे केवल मांसभक्षण
के त्याग में विधि कहेंगे । अतएव ४३ से बराबर मांस का निषेध
और बीच के सब श्लोकों का प्रक्षिप्त होना ठीक पड़ जाता
है । जिन लोगों को तमोगुण के अन्धकार वा रजोगुण के
रज से बुद्धि आच्छादित होने के कारण शास्त्र के सिद्धान्ता-
नुसार अर्थ करने वा समझने की शक्ति नहीं वे हमारे अर्थ

को अनर्थ समझें तो हम को इस का किञ्चित् भी शोक नहीं है । आगे २७ । ३० से ४२ तक इसी अध्याय ५ के श्लोक जिन को मैं प्रक्षिप्त ठहरा चुका हूं जो मांसाशी उपदेशक के अनुकूल हैं उन में से कई लिखे और कई बीच २ के छोड़ दिये हैं । उक्त सब प्रक्षिप्त श्लोकों में यज्ञ के बहाने से मांस खाना किसी मांसाहारी ने मनु के नाम से वर्णन किया है सो जिस किसीने वे श्लोक मिलाये हैं उसने अपने लेख के ढंग से ही सिद्ध कर दिया कि जिस से प्रक्षिप्त होना झलक गया चोरी वा छल कहां तक छिपे । इस लिये विशेष लिखना व्यर्थ है । अब इन उपदेशक जी की एक चोरी पकड़ी है सो भी पाठकों को जता देनी चाहिये । इसी पांचवें अध्याय का ३१ वां श्लोक उपदेशक जी ने छोड़ दिया– !!!

यज्ञाय जग्धिर्मांसस्येत्येष दैवो विधिः स्मृतः ।
अतोऽन्यथा प्रवृत्तिस्तु राक्षसो विधिरुच्यते ॥३१॥

यज्ञ के लिये मांसखाना अर्थात् यज्ञ के लिये पशुहिंसा करे यज्ञ किये पश्चात् बचे मांस को खावे यह दैवविधि है और केवल अपनी पुष्टि के लिये मार कर खाना राक्षसों की रीति है । यह इस का अक्षरार्थ है । इस श्लोक को उपदेशक जी ने इस लिये चुराया था कि वर्त्तमान समय में हमारे पक्ष के मांसाहारी यज्ञ के लिये न पशुहिंसा करते और न

यज्ञ करते कराते हैं तब उन का मांसभक्षण राक्षसी रीति का ठहरेगा तो हम पर अप्रसन्न होंगे और स्वार्थसाधन में विघ्न होने का भय होगा । इस लिये यह सीधा उपाय शोचा कि श्लोक को ही चुरालें "मौनं सर्वार्थसाधकम्" । यद्यपि यज्ञ के साथ में भी मांसभक्षण को दैवीसम्प्रदाय हम नहीं मान सकते तथापि उपदेशक की माया दिखाने के लिये हमने यह श्लोक लिख दिया । तथा उपदेशक जी ने अपने पुस्तक में-

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला ॥

मांस मद्य और मैथुन में दोष नहीं यह तो प्राणियों की प्रवृत्ति है परन्तु निवृत्ति अर्थात् इन तीनों के त्याग का बड़ा फल है । यह श्लोक भी जो मांसाहारियों के लिये शिरोमणि प्रमाण है सो छोड़ दिया इस को छिपाने के दो कारण मालूम होते हैं एक तो इस में मद्य पीने और व्यभिचार में भी दोष नहीं उस का भी मार्ग खोल दिया है जिन मद्य मैथुन के उपदेश में उपदेशक जी को अभी कुछ दिन लज्जा है । मांसभक्षण के झगड़े से निवृत्त होने पर उपदेशक जी उन दोनों विषयों पर भी हाथ फेरेंगे । और दूसरा कारण यह है कि "निवृत्तिस्तु महाफला" कहने से सिद्ध हुआ कि मांस मद्य मैथुन का सेवन करने की अपेक्षा छोड़ देना अत्युत्तम है तो मांसाहारियों की अपेक्षा फला-

हारी अति उत्तम हुए यह उन्ही को मानना वा लिखना पड़ता । मांसाचार्य जी ने शोचा होगा कि हमारे पक्ष के लोग नीच बनना स्वीकार नहीं करेंगे। इस लिये ऐसे श्लोक का प्रमाण देना उचित नहीं इस कारण उक्त प्रमाण को छिपा रक्खा । आगे १३१ श्लोक लिखा है उस को भी हम प्रक्षिप्त ठहरा चुके हैं इस कारण उस पर भी लिखना व्यर्थ है

मां०—वर्जयेन्मधु मांसं च भौमानि कवकानि च।
भूस्तृणं शिग्रुकं चैव श्लेष्मातकफलानि च ॥
॥ १३ ॥ अ० ६

अ०—वानप्रस्थी सहत मांस और सब प्रकार के कवक भूस्तृण—शिग्रूक और श्लेष्मातक इन सब पदर्थों को वर्ज दे ।

नोट—यदि आम पुरुषों के लिये विधान नहीं था तो फिर वानप्रस्थी के लिये निषेध क्यों किया अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है कि बाकी सर्वसाधारण के लिये विधान है ॥

उ०—यदि मांसोपदेशक जी को सामान्य विशेष रीति से धर्मशास्त्रादि का आशय समझने की योग्यता होती तो ऐसे अन्धकार में क्यों पड़ते ? । जैसे सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के विधिवाक्य होते हैं । किसी कर्त्तव्य को सर्वसाधारण के लिये विधान करके किसी निज को उस की अवश्य कर्त्तव्यता दिखाने के लिये विशेष विधान किया जाता है । इसी प्रकार सामान्य और विशेष दोनों प्रकार निषेध

भी शास्त्रसिद्धान्त के अनुकूल हैं "न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्" इत्यादि वचनों से मांसभक्षण का सामान्य निषेध है। और (वर्जयेन्मधु०) इस से संन्यासी के वा वानप्रस्थ के लिये विशेष निषेध इस लिये किया गया कि वानप्रस्थ वा संन्यास तो मांसभक्षणादि दुराचरण से सर्वथा ही विगड़ जाता है। हम मानवधर्मशास्त्र से ही सामान्य विशेष अनेक विधि निषेध दिखा सकते हैं। जैसे—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥८॥ अ०

अर्थः—वानप्रस्थ पुरुष स्वाध्याय नाम सन्ध्या कर्म की रीति से वेदमन्त्रों के जप वा पाठ नित्य नियम से अवश्य किया करे। स्वाध्याय को मनु जी ने पञ्चमहायज्ञ में पहिला यज्ञ माना है। वानप्रस्थ मन को वश में रक्खे सब से मित्रता और चित्त की चञ्चलता छोड़ कर सावधान रहे। दानशील हो किसी से कुछ लेवे नहीं और सब प्राणियों पर कृपादृष्टि रक्खे। क्या ये सब काम गृहस्थादि को निषिद्ध हैं? ऐसा उपदेशक जी सिद्ध कर सकेंगे? कदापि नहीं किन्तु उन को भी मानने पड़ेगा कि यह वानप्रस्थ के लिये विशेष विधान है प्रयोजन यह है कि कोई रुकावटें किसी २ समय में ऐसी हो सकती हैं जब गृहस्थ को धर्मसम्बन्धी कर्त्तव्य काम छोड़ना पड़े वा किसी कारण न कर

सके, अथवा कोई अधर्मसम्बन्धी काम जिस का शास्त्र में निषेध किया है किसी कारण करना पड़जावे यह सम्भव है इस लिये हम कहते हैं कि गृहस्थ पुरुष कदाचित् कोई कभी सर्वथा निष्पाप हो सके। परन्तु वानप्रस्थ आश्रम इसी लिये है कि उस को संसार की कोई रुकावट न होनी चाहिये त्याज्य के छोड़ने और कर्त्तव्य के करने में उस को पूरा यत्नवान् होना चाहिये। इसीलिये विशेष विधान करके शास्त्रकारों ने उस पर जोर डाला है कि उस के लिये अब कोई बहाना बाकी नहीं है। जैसे गृहस्थ को भी पञ्चमहायज्ञादि वा सन्ध्यादि कर्त्तव्य हैं परन्तु वानप्रस्थाश्रमी को उस से भी अधिक ध्यान के साथ अवश्य कर्त्तव्य हैं इसी प्रकार हिंसा वा मांसभक्षण का त्याग पूर्व लिखितानुसार गृहस्थ को भी कर्त्तव्य है परन्तु वानप्रस्थाश्रमी को उस से अधिक त्याज्य है। इस अभिप्राय से मधुमांसादि का विशेष निषेध वानप्रस्थी के लिये किया गया है। और उपदेशक जी ऐसा न मानें तो उन को अपने मतानुसार समाधान करना चाहिये कि—

न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥

अर्थात् ऐसे उत्तम मनुष्य शरीर को पाकर किसी से वैर न करे। इस से आया कि जब संन्यासी किसी से वैर न करे तो क्या गृहस्थादि के लिये आज्ञा होनी चाहिये कि वे सब से वैर बांधा करें ?। इस के समाधान का भार

मांसाचार्य पर है । जैसे वानप्रस्थों को मांसादि का निषेध आने से अर्थापत्ति द्वारा गृहस्थादि के लिये आप मांसभक्षण की आज्ञा ठहराना चाहते हैं वैसे ही संन्यासी के लिये वैर करने का निषेध होने से गृहस्थादि को वैर करने की आज्ञा आनी चाहिये ! । आशा है कि पाठक लोग इस का समाधान मांसोपदेशक जी से पूछेंगे और मुझ को उत्तर दिलावेंगे ॥

मां०—आददीताथ षड्भागं द्रुमांसमधुसर्पिषाम् ।
गन्धौषधिरसानांचपुष्पमूलफलस्यच॥१३१अ०७

अ०—राजा मधु-मांस-घी-गन्ध, ओषधि, रस, पुष्प, मूल और फल इन सब के लाभ का छठा भाग लेवे ॥

नोट—इस से मांस प्रक्षिप्त सिद्ध नहीं होता किन्तु नीच लोगों में पहिले व्योपार भी था ॥

उ०—यह श्लोक उपदेशक जी ने केवल पुस्तक पूरा करने के लिये ही लिखा है क्योंकि उन को भी यह तो ज्ञात है कि अर्थापत्ति आदि से भी इस से कोई मांसभक्षण का विधान नहीं निकाल सकता । अब रहा यह कि पहिले नीच लोगों में मांस बिकता भी था इस से हमारी कुछ हानि नहीं । हमारा पक्ष है कि मांस खाना धर्म विरुद्ध अधर्म का काम है इस के साथ मांस बिकने का सम्बन्ध ही क्या हुआ ? । यह तो ऐसा ही हुआ कि जैसे कोई कहे कि चोरी बुरा

काम है इस पर कोई कहे कि चोरी तो पहिले भी होती थी देखो मनुस्मृति में चोरी का दण्ड लिखा है शोचिये तो सही यह मांसभक्षण का समाधान क्या हुआ ?। यह तो हम भी मानते हैं कि बुराई भलाई सब अनादि काल से हैं इसी कारण देवासुरसङ्ग्राम सृष्टि के आरम्भ से प्रलय तक चला करता है। हम तो यहां तक स्वीकार कर चुके हैं कि कुछ समय ऐसा आगया था जब लोगों ने मनुष्यों तक को मार २ यज्ञ में चढ़ाया और यज्ञ का शेषभाग मनुष्य का मांस भी खाया हो यह सम्भव है। बस यहां से आगे और अधिक मांसभक्षण की वृद्धि होना असम्भव है। अब रही यह बात कि मांस बेंचने को मनु जी बुरा समझते तो उस पर कर क्यों बांधते किन्तु मांस बेंचने वाले पर कुछ दण्ड लिखना चाहिये था। इस का उत्तर यह है कि—जब जङ्गल वा वन इस देश में बहुत थे जिन में हिंसक जीव इतने बढ़ते थे कि ग्राम नगरादि में भी मनुष्यों तक को खा जाते इस कारण राजा लोगों को उन के मरवाने की आज्ञा देनी आवश्यक थी और अधिक लोग वनों से प्राणियों को मार २ के कहीं २ मांसाहारियों को उन का मांस बेंच देते थे तब उन के व्यापार पर कर लगाया। तथा एक बात यह भी हो सकती है कि राजधर्म का कानून किसी खास देश काल में वर्त्ता जाय ऐसा छोटा विचार मन्वादि का नहीं था इसी लिये उन्हों ने किसी खास राजा को वर्त्तने के

लिये नहीं लिखा अर्थात् सब देश सब कालों में होने वाले सब प्रकार के राजाओं के लिये राजधर्म कानून है । इस दशा में यह अभिप्राय हो सकता है कि जिस देश में जिस समय मांस विकना स्वतः सिद्ध हो जिस को राजा भी न बन्द कर सके तो वहां मांसविक्रय पर भी राजा को कर लेना चाहिये । और सर्वोपरि शोचना यह है कि राजधर्म के साथ धर्म का ऐसा सम्बन्ध भी नहीं है जो राजा धर्म से विरुद्ध कुछ न करे अर्थात् राजनियम पर चलने वाले को कुछ २ किसी २ अवसर पर धर्मविरुद्ध काम करने भी पड़ते हैं कि जिन के किये विना धर्म में भी बाधा पड़ा करती है और ऐसे कोई २ काम मनुस्मृति में भी लिखे हैं परन्तु किसी कारण किसी समय राजा को कर्त्तव्य लिख देने से वे धर्मसम्बन्धी काम नहीं हो सकते किन्तु अधर्म ही कहावेंगे । और हमारा पक्ष भी यही है कि मांसभक्षण धर्मविरुद्ध अधर्मसम्बन्धी काम है किसी को कभी करना पड़े यह और बात है । सो इस प्रमाण से मांसविक्रय को वा मांसभक्षण को न मनु जी ने धर्म ठहराया और न कोई धर्म ठहरा सकता है ॥

मां०—वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथा यथा । तथा तथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा ॥ ५८५ अ०८

सम्पूर्ण वनस्पतियों का जैसा २ उपभोग होता है वैसा

२ उन की हिंसा करने में भी राजा दण्ड देवे यह शास्त्र का निश्चय है ॥

नोट–यहां पर यह विचारना आवश्यक है या तो स्वामी श्री दयानन्द जी तथा अन्य सब प्राचीन ऋषियों के मतानुसार वनस्पतियों में जीवात्मा माना जावे तो भी शाकाहारियों को हमारी अपेक्षा बहुत पापी बनना पड़ता है क्योंकि यहां तो एक बकरा मारने से बहुत पुरुषों का काम चल सकता है और उन को तो प्रतिव्यक्ति के लिये कितने २ फल मूलादि नष्ट करने पड़ते हैं । और यदि वह लोग वृक्ष वनस्पत्यादिकों में जीव न मानें (जैसा कि ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी पं० मणिराम पं० लेखराम आदि समाज के उपदेशक तथा कितने एक समाज के सभासद् मास्टर आत्माराम पं० धर्मचन्द्र तथा लाला केवलकृष्ण आदि स्वा० जी के मन्तव्यविरुद्ध वनस्पति में जीव का होना नहीं मानते हैं) तो उन का यह कथन कि प्राणवियोग व्यापार (जीवात्मा का शरीर से पृथक् करने) का नाम ही हिंसा है सर्वथा असंगत हो जायगा । किन्तु हमारा कथन कि दुःख देने और नुक्सान पहुंचाने का नाम भी हिंसा है तो फिर उन का मतलब सिद्ध होना कठिन है । और हमारा सिद्धान्त तो मन्वादि सब ऋषियों के अनुकूल है कि थोड़े लाभ के अर्थ बहुत हानि (नुकसान) पाप है और लाभ के अर्थ थोड़ी हानि धर्म

है क्योंकि जगत् में न कोई वस्तु सर्वथा हानिकारक है और न हो सर्वथा लाभकारी है। अतः यही धर्माधर्म का स्वरूप है या यह कहो कि जिन मन्वादिक ऋषियों ने धर्म और अधर्म कहा है वोही धर्माधर्म है और लाभ और हानि के न्यूनाधिक होने से धर्माधर्म में न्यूनाधिकता आती है जैसा कि इस श्लोक में कहा है ॥

उ०—हमारा सब मन्तव्य वा सिद्धान्त मनु आदि महर्षियों तथा परिव्राजकाचार्य श्रीस्वामी दयानन्दसरस्वती जी के अनुकूल है उन से विरुद्ध एक पग भी चलना हम अच्छा नहीं समझते तब स्थावर में जीवात्मा की स्थिति मानना वा सिद्ध करना हमारा काम हो गया। हम लोग शाकाहारी नहीं किन्तु फलाहारी हैं क्योंकि फल ही वास्तव में उन २ वस्तुओं का सार है गेहूं आदिक फल ही हैं और पक्व फल के आहार में लेशमात्र भी दोष नहीं है। इसी कारण तपस्वियों के लिये मनु जी ने स्वयं शीर्ण फल खाने की आज्ञा दी है। और शाकादि हरित वस्तु के खाने में यदि कुछ लेशमात्र दोष भी है तो वह ऐसा ही है कि जैसे एक दाने की चोरी वा एक दाने का दान पाप पुण्य में गणना के योग्य नहीं होता। हम इस को अच्छे प्रकार सिद्ध कर चुके हैं कि एक डांश का मारना और एक गौ का मारना दोनों हत्या बराबर नहीं हो सकतीं युक्ति वा प्रमाण से कोई इन को बराबर नहीं ठहरा सकता। इसी के अनुसार मनुस्मृति

में क्षुद्र जन्तुओं की हिंसा में प्राणायामादि अतिसूक्ष्म प्रायश्चित्त रक्खा है फिर वनस्पत्यादि में तो क्षुद्र जन्तुओं की अपेक्षा भी सहस्रों गुण अपराध कम है । उन के काटने आदि में दोष नहीं यह कह सकते हैं । पाठक महाशयो ! शोचिये स्थावर में जीव मानने के पक्ष में मांसाचार्य जी ने शाकाहारियों को विशेष पापी ठहराने के लिये स्वयं पापी बनना स्वीकार कर लिया अब तो इस से मांसोपदेशक जी ने सिद्ध कर दिया कि मांसभक्षण पाप है और हम मांसभक्षी पापी हैं । शोचने का स्थान है कि मांसभक्षण को अच्छा ठहराने के लिये तो आपने पुस्तक रचा और उसी पुस्तक में बुरा लिखने लगे । यह वैसा ही कथन है कि किसी को कोई चोर ठहरावे तो उस को वह उत्तर दे कि तुम भी तो चोर हो । अच्छा भाई ! हम चोर सही पर तुम ने इस से अपना बचाव क्या किया ? अर्थात् स्वयं अपने को चोर तो मान लिया न ? । उचित तो यह था कि तुम अपने को निर्दोष सिद्ध करो सो तो कुछ नहीं हुआ । और हमारा समाधान भी होगया कि प्रथम तो हम शाकाहारी नहीं हैं कि घास फूस ही उबाल २ खाते हों किन्तु हम फलाहारी हैं और यदि किसी अंश में कुछ शाकाहारी भी दोषी हो सकते हों तो मांसभक्षियों की अपेक्षा क्रोड़वें अंश में भी दोषी नहीं यह हम अच्छे प्रकार युक्ति प्रमाण से सिद्ध कर चुके हैं बस अब मांसाहारी पापी ठहर गये । वास्तव में जैसा उपदेशक जी ने हम पर ढाल कर लिखा है कि स्थावर में जीव मानो

तो तुम्हारे पक्ष में यह दोष है और न मानो तो अमुक दोष है अर्थात् स्थावर में जीव मानने न मानने में हमारा कोई सिद्धान्त नहीं हमारा सिद्धान्त खाली स्वार्थ साधन है हम जब जैसा मानने से अपने स्वार्थ में बाधा न देखेंगे वैसा मान लिया करेंगे यह सिद्धान्त उन का भीतरी है। अस्तु ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी आदि स्थावर में जीव मानते हैं वा नहीं इस विषय को हम ठीक २ नहीं जानते इस लिये कुछ लिखना व्यर्थ है परन्तु हम सब शास्त्रों के अनुकूल स्थावर में जीव मानते हैं।

अब रहा यह कि हिंसा किस को कहते हैं ? इस पर भी अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। एक अन्न का दाना किसी को देना दान क्यों नहीं माना जाता यह सब लोग जान सकते हैं। दान पुण्य हिंसा अहिंसा आदि का अर्थ लोक में अधिक प्रसिद्ध है। यद्यपि किसी प्रकार पीड़ा पहुंचाने का नाम हिंसा हो सकता है परन्तु गौण और मुख्य में से मुख्य का ग्रहण होता है गौण का नहीं इसी के अनुसार लोक और शास्त्र में सब प्रकार की ताड़ना का नाम हिंसा नहीं है इसी लिये बैल आदि को छेदने के अर्थ में तुद धातु का प्रयोग होता। इसी प्रकार भिन्न २ प्रकार की ताड़नाओं के लिये भिन्न २ धातु वा शब्द पूर्वजों ने नियत किये हैं यदि सब स्थानों में एक हिंसा शब्द से काम निकल जाता तो अन्य शब्दों वा धातुओं का नियत करना व्यर्थ है इस लिये

हिंसा शब्द का खास प्राणवियोगानुकूल व्यापार ही अर्थ है । यदि आप को कोई प्रमाण मिल सके तो बताइये कि कहां २ आर्षग्रन्थों में हिंसा का अर्थ किस २ प्रकार की ताड़ना में लिया गया है ? । हमे पूरा विश्वास है कि उपदेशक जी ऐसा एक भी प्रमाण नहीं दे सकते । और "थोड़े लाभ के लिये अधिक हानि पाप और अधिक लाभ के अर्थ थोड़ी हानि धर्म है" यह तो किसी प्रकार हम भी ठीक मानते और यह धर्मशास्त्र के अनुकूल भी है परन्तु यदि यह विचार धर्मानुकूल हो तब न ? । जिस मनुष्य ने अपने स्वार्थ साधन को सर्वोपरि वा बड़ा मान लिया है वह दूसरे की कैसी ही बड़ी हानि हो उस को थोड़ी हानि और अपने स्वार्थ को बड़ा लाभ सदा ही मानेगा । वास्तव में यही दशा प्रायः प्रचलित है शोचने का स्थान है कि अपने स्वाद के लिये वा अपना पेट भर के बल बढ़ाने की इच्छा से दूसरे प्राणियों का प्राण तक ले लेना क्या यह बड़ी हानि नहीं है ? क्या प्राण ले लेने से अधिक जगत् में किसी की और अधिक हानि कोई कर सकता है ? । राजदण्ड में भी फांसी से अधिक कोई दण्ड ही नहीं माना जाता । परन्तु शोचे कौन स्वार्थ की टट्टी जिन के नेत्रों के सामने दृढ़ता से खड़ी है वह तो नहीं देखने देती । परन्तु यह सिद्धान्त कि "जगत् में न कोई वस्तु सर्वथा हानिकारक है और न सर्वथा लाभकारी है अतः यही धर्माधर्म का स्वरूप है," सब

शास्त्रों और युक्ति के विरुद्ध है। क्योंकि अग्नि में जल जाना संखिया आदि विष खा लेना किसी शस्त्रादि की चोट लगना सब के लिये सब काल में हानिकारक है और विद्या पढ़ना सब का हित चाहना योगाभ्यास वा परमेश्वर की भक्ति आदि अनेक काम सब के लिये सब प्रकार सदा लाभकारी हैं तथा धन को संचित करना विवाह करना सन्तानों की इच्छादि कामों में हानि लाभ दोनों हैं। इसी के अनुसार सब शास्त्रों का सिद्धान्त है। सुश्रुत में भी तीन प्रकार के कर्म वा वस्तु माने हैं। १-सर्वहित। २-सर्वाहित। और ३-हिताहित मेरा लेख इस के भी अनुकूल है और यह कभी कोई सिद्ध भी नहीं कर सकता कि सर्वथा लाभकारी वा सर्वथा हानिकारक कोई काम जगत् में नहीं है क्योंकि परोपकारादि सदा सब के लिये हितकारी है और संखियादि सदा सब के लिये हानिकारक प्रत्यक्ष हैं प्रत्यक्ष में अन्य प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं। इस लिये यह सिद्ध हुआ कि जो सदा सब को लाभकारी है वह मुख्य वा पूर्ण धर्म और जो सदा सब को हानिकारक है वह मुख्य अधर्म है और जहां दोनों मिश्रित हैं वहां जिस समय जिस के लिये जिस देश में जो काम लाभ की अपेक्षा शास्त्र और युक्ति के अनुसार विशेष वा प्रबल हानिकारक ठहरे वह काम उस के लिये उस देश वा काल में अधर्म है और इसी प्रकार हानि की अपेक्षा विशेष लाभकारी धर्म माना जायगा। इस का निर्णय पहिले से कोई नहीं कर सकता किन्तु सृष्टि के आरम्भ से अन्त तक उस २ समय के विद्वान् वा बुद्धिमानों

का काम है कि अधिकानुमति से अधिक हेतु वा कारणों की प्रबलता देख कर धर्म अधर्म का निर्णय किया करें। आशा है कि इस लेख के सिद्धान्त को शोचने वाले सज्जन मांसोपदेशक जी के शास्त्रविरुद्ध लेख को सर्वथा पोच समझ लेंगे ॥

इस के आगे उपदेशक जी ने मनु के राजधर्म प्रकरण से मांस की चोरी के दण्ड का प्रमाण दिया सो व्यर्थ है। हम तो स्वयं ही मानते हैं कि पहिले राक्षस नामक जाति के लोग मनुष्य तक का मांस खाते थे तब पश्वादि का क्या कहना सामयिक राजा का काम भी यह था और होना चाहिये कि जो जिस (अच्छी वा बुरी) परम्परा में वर्त्तमान है उस की वैसी ही रक्षा करे। राक्षस जाति में मांसभक्षण का प्रचार था किसी जाति की परम्परा वा स्वभाव को राजा भी नहीं बदल सकता परन्तु मांस की चोरी पर दण्ड लिखा जाने से यह भी कोई सिद्ध नहीं कर सकता कि पहिले राजा लोग भी मांस भक्षण को धर्म समझते हों। मुसल्मान राजा मद्यपान को पाप समझते हैं तो क्या मद्य चुराने वाले को दण्ड न देंगे ?। हमारा पक्ष यह नहीं है कि मांस भक्षण कभी कोई नहीं करता था न विकता था न कर लेता था। किन्तु हमारा पक्ष यह है कि पूर्वज महात्मा मनु आदि ने मांसभक्षण को धर्मानुकूल नहीं माना। इस के विरुद्ध जो कोई प्रमाण दिखा सके उस का समाधान

करना हमारा काम है। यद्यपि सामान्य कर मांसभक्षण वा हिंसा को महापातक मनु जी ने नहीं लिखा तथापि सब धर्मों में बड़ा धर्म अहिंसा और सब पापों से बड़ा पाप हिंसा को मनु जी ने स्पष्ट माना है यह पहिले ही हम सिद्ध कर चुके हैं और हिंसा किये वा कराये विना मांस प्राप्त हो नहीं सकता इस लिये मांस भक्षण बड़ा पाप है। और मांस बेंचने के लिये जो दशमाध्याय में ब्राह्मण को निषेध है इस से वैश्य के बेंचने का विधान अर्थापत्ति से लाना यह उपदेशक जी का अज्ञान है। यदि वेद पढ़ने की ब्राह्मण को आज्ञा हो तो अर्थापत्ति से उपदेशक जी निकालेंगे? कि क्षत्रिय वैश्यादि वेद न पढ़ें। अथवा मनु जी ने लिखा है कि "गृहस्थ ब्राह्मण यदि कुछ उद्योग करके जीविका करने का सामर्थ्य रखता हो तो आलसी होकर अन्नादि के विना दुःख न भोगे" क्या यहां भी मांसोपदेशक जी निकालेंगे? कि क्षत्रिय वैश्यादि समर्थ होने पर भी दुःख भोगा करें कदाचित् मांसभक्षण से उपदेशक जी की बुद्धि तीव्र हो गयी हो तो ऐसा करने को तत्पर हो जांय। आशा है कि हमारे पाठक महाशय इतना ही लिखने से समझ गये होंगे कि मनु जी का आशय ऐसे प्रकरणों में विधान करने का है किन्तु निषिद्ध हुये मांसादि सभी वस्तुओं का बेंचना लेना वा भक्षणादि सामान्य कर सभी के लिये निषिद्ध है पर ब्राह्मण के लिये विशेष वा आवश्यक निषेध है। और ऐसे

स्थलों में मांसाचार्य जी ने अर्थापत्ति निकाली है उस में दिये दोषों के समाधान का बोझा उपदेशक जी के माथे रहा जिस का समाधान जन्मान्तर में भी करना कठिन है ॥

आगे मनु के दशवें अध्याय के आपद्धर्मविषयक दो श्लोकों पर नोट दिया है—मा० नो०—यह धर्म आपत्काल का है यद्यपि कुत्ते आदिकों का मांस निषेध है तथा ऐसे काल में वह भी विधि है और हमारे शाकाहारी महात्माओं का तो कथन है कि मर जांय तो भी मांस न खांय और इसी तरह इन दुष्टों ने गुरुदत्त जी को मांस न खाने दिया और वह मर गये। यद्यपि पूर्व समय में उन्हों ने बहुतसा खाया था सो यह लोग यह तो बतावें कि धर्म रक्षार्थ है वा नाशार्थ ।

उ०—इन श्लोकों को हम मानवधर्म मी० भूमिका में प्रक्षिप्त ठहरा चुके हैं सारांश यह है कि " न जातु० धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः " मनुष्य अपने जीवन के लिये भी धर्म न छोड़े यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त सब वेदादि वा आर्ष ग्रन्थों के अनुकूल है। और मांसभक्षण सर्वथा धर्म से च्युत करने वाला है इस लिये जीवन की आशा से भी कभी धर्म को न छोड़े अर्थात् मांस न खावे यह सिद्धान्त बहुत शुद्ध वा पक्का है । इस में एक विचार यह भी है कि मांसभक्षण से आपत्काल में हमारा जीवन अवश्य बना रहेगा ऐसा विश्वास किसी प्रकार न हो सकता और न कोई विश्वास करा सकता है। ऐसा हो तब तो मांस को अमृत वा अमर

करने वाली कोई ओषधि मांसभक्षणपक्षियों को मान लेना चाहिये क्योंकि उपदेशक जी ने मृत्यु से बचने का उपाय उन को बतला दिया । यह लेख प्रत्यक्ष से कितना विरुद्ध है कि गुरुदत्त जी को मांस खाने देते तो न मरते । मैं कहता हूं कि मांस खाने वाले जब मरने लगते हैं तब आप एक टोकरा भर मांस खिला कर क्यों नहीं जिला लेते ? । आशा है कि मांसाचार्य जी मांस खाकर अमर हो जायंगे । और अपने पक्ष वालों में कोई मरने लगेगा तो मांस खिला कर बचा देंगे । मांस मद्यादि तो वास्तव में शरीर के नाशक पदार्थ हैं उन के खाने से तो रोगी न मरने को हो तो मर जा सकता है परन्तु जो सर्वोत्तम गुण वाली ओषधि हैं वे भी किसी को मृत्यु से नहीं बचा सकतीं यह सब का सिद्धान्त है । इस से मांस से मृत्यु के हटाने का लेख सर्वथा पोच है ।

आगे मांसोपदेशक जी ने गोवधादि उपपातकों को गिना कर लिखा है कि-नो०-मुझे शोक से लिखना पड़ता है कि ऊपर लिखे उपपातकों की गणना में भी तो कहीं मांस का नाम नहीं आया क्या इन में से भी मांसाहारियों ने काट दिया ? ॥

उ०-यद्यपि यह हम भी मानते हैं कि मांसभक्षण उपपातक नहीं किन्तु उपपातकों से बड़ा पातक है तथापि थोड़ा शोचने से मालूम होगा कि गोवध को मनुजी ने सब से बड़ा उप-

पातक कहा है क्या मांसाहारी लोग गोघात से कभी बच सकते हैं ? जब कि बधिक लोग अपने गुप्त स्थानों में गौओं का वध कर २ भी बाजारों में बेंचते हैं मांसाहारियों के नौकर मोल लाते और पकाते खाते खिलाते हैं जिस में अनेकों बार मांसाहारियों को भी गोमांस खाना अवश्य पड़ता है प्रथम तो परीक्षा ही करना दुस्तर है और नित्य २ कोई परीक्षा करता भी नहीं । तो पकाने खाने वाले सभी लोग (खादकश्चेति घातकाः) के अनुसार गोघातक हो गये न ? कि अब भी कुछ सन्देह है ? । इस से क्या मांसाहारी उपपातकी सिद्ध नहीं होते ? । और यहीं तक नहीं किन्तु यह भी सुना गया है और सत्य ही होना सम्भव है कि पंजाब में किसी दुकान्दार ने कई मनुष्यों को जो हजार पांचसौ रुपये बांध कर लवण खरीदने को गये रात को मांस रोटी पका कर बेंचने वाले की दुकान पर ठहरे उस ने उन को रुपये के लोभ से रात को काट कर पका २ मनुष्यों का मांस भी मनुष्यों को खिला दिया पीछे वह मनुष्य पकड़ा गया आदमियों के कटे शिर उस के घर में निकले तो अब विचारिये कि ऐसे सुप्रबन्ध के साथ गवर्नमेण्ट का राज्य होने पर भी मनुष्यों तक का मांस मनुष्यों को खाने पड़ता है तो मांसाहारी लोग गोमांस खाने से बच जांय यह कौन सम्भव मानेगा ? । तथा इन्हीं उपपातकों में जब ईन्धन के लिये फलते फूलते हरे वृक्षों का काटना भी उपपातक माना

गया तो हरे भरे बकरा बकरी भेड़ा आदि को अपने उदर भरने की स्वार्थता से मारना मरवाना क्या वृक्षों के बराबर भी पाप नहीं है ? सोचने से मालूम होगा कि वृक्षों से सहस्रोंगुणा अधिक पाप बकरा आदि के मारने में है तो फिर इस से उपपातकों से भी अधिक पाप मांसाहारियों को लगना सिद्ध हो गया न ? फिर यह कहना कैसे बना कि "उपपातकों में भी मांस खाना नहीं आया" और मनु जी ने कई स्थल में स्पष्ट भी कह दिया है कि-

स्वमांसं परमांसेन यो वर्धयितुमिच्छति । अनभ्यर्च्य पितृन्देवांस्ततोऽन्यो नास्त्यपुण्यकृत् ॥ अ० ५ ॥

जो पितृदेवादि नामक आप्त शिष्ट लोगों के उपदेश से विरुद्ध होकर दूसरों के मांस से अपने शरीर के मांस को पुष्टि करना चाहता है उस से अधिक पापी और कोई नहीं इत्यादि लेख मनु जी ने स्पष्ट लिखा है फिर यह लिखना कैसा है ? कि किन्हीं पातकों में मांसभक्षण की गणना नहीं। पूर्वोक्त लेख से यह भी स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्महत्यादि महापातक कभी प्रमाद से कोई कर सकता है और "जो अपनी पुष्टि के लिये नित्य ही दूसरों के प्राण लेता है उस से बड़ा पापी कोई नहीं" इस कथन से यह भी सिद्ध हो-गया कि महापातक भी इस से बड़ा पाप नहीं किन्तु मा-

हापातकों से भी यही बड़ा है और महापातकों तक का कुछ २ प्रायश्चित्त कहा है उस से बड़े पाप का प्रायश्चित्त हो ही नहीं सकता फिर प्रायश्चित्त में उस को क्यों लिखते । हम सिद्ध कर चुके हैं कि प्रायश्चित्त धर्मात्मा के लिये हैं । जो कभी भूल वा प्रमाद से कुछ अपराध कर बैठे उस के चित्त में उस काम से जो ग्लानि वा मलिनता हो उस को मेंटने के लिये प्रायश्चित्त कहे गये हैं और जैसे वर्षों तक जिस घड़े में मद्य भरा जाता हो उस की शुद्धि मनु जी ने अग्नि में पकाने पर भी नहीं मानी वैसे ही जो बुराई को अच्छा समझ कर जन्म भर किया करता है उस का प्रायश्चित्त वा शुद्धि का उपाय क्या हो सकता है ? उस का शुद्ध हो सकना असाध्य रोग है । और जो कभी भूल वा प्रमाद से मांस खा लेवे वा मांस खाने आदि के लिये पश्वादि की हिंसा करे उस के लिये प्रायश्चित्तप्रकरण में यथोचित प्रायश्चित्त बराबर लिखे ही हैं । और मांसोपदेशक जी वा उन के पक्ष के लोग सब से बड़ा भक्ष्य बकरा को ठहराना चाहते हैं जिस के लिये भी हम मनु जी के ११ अध्याय के श्लोक से प्रायश्चित्त इसी पुस्तक के खण्डन में दिखा चुके हैं। अब कहिये और किधर २ को भागोगे ॥

मां०—आगे (ब्राह्मणस्य रुजः कृत्वा०) इत्यादि जाति से च्युत करने वाली बुराइयों को गिना कर नोट दिया है—

नो०—इन में भी मांसभक्षण नहीं आया फिर न मालूम हमारे सामाजिक भाई मांसाहारियों को क्यों निकालना

चाहते हैं ? जब कि पुंसिमैथुन करने वाले शराब पीने वाले कुटिल इन सब की इज्जत की जाती है शोक !

उ०—जाति च्युत करने का दण्ड छोटे २ पापों का प्रायश्चित्त थोड़ा दण्ड है क्योंकि जातिभ्रंश की अपेक्षा अजाविक—बकरा बकरी भेड़ा का वध करना मनु जीने बड़ा पाप माना है इसी लिये इस का परिणाम संकरीकरण लिखा कि द्विज लोग यदि बकरा मार २ खावें तो वे वर्णसंकर अन्त्यज हो जाते हैं अर्थात् चारो वर्ण से नीच वर्णसंकर माने गये तो शोचिये कि जातिच्युत करने की अपेक्षा वर्णसंकर बन जाना कितने बड़े पाप का फल है फिर मांसाहारियों को जब मनु जी बड़ा पापी समझते मानते थे तो जातिच्युत के छोटे पाप में उन को क्यों गिनाते । इस से प्राणियों को मार २ खाना जातिच्युत से बड़ा पाप सिद्ध होगया इस लिये यदि फलाहारी लोग मांसाहारियों को जातिच्युत करना मात्र थोड़ा दण्ड देना चाहते हैं तो यह फलभोजी महाशयों की उन पर कृपादृष्टि है । हमारी समझ में तो इन पर धर्मशास्त्र की सम्मत्यनुसार संकरीकरण का अपराध लगाना चाहिये । मनु जी ने जातिभ्रंश पर सात दिन का कृच्छ्रसान्तपन व्रत प्रायश्चित्त लिखा और संकरीकरण पर एक महिने का चान्द्रायण व्रत प्रायश्चित्त (११ । १२४–१२५ में लिखा है इस से भी जातिभ्रंश की अपेक्षा संकरीकरण का बड़ा पाप होना स्पष्ट सिद्ध है ।

जाति से जो मनुष्य पतित किये जाते हैं उस का अभिप्राय यह है कि कुछ काल के लिये जब तक वे प्रायश्चित्त कर लें जाति से पतित रहें फिर सभा के बीच उन से प्रतिज्ञा करा ली जावे कि अब आगे ऐसा अपराध हम भूल कर भी न करेंगे तब जाति में मिला लिये जांय जातिभ्रंश करना एक प्रकार का दण्ड है। यदि हमारे भाई मांसाहारी भी प्रायश्चित्त चाहें और आगे वैसा न करने की सभा में प्रतिज्ञा करें तो फलाहारियों को उचित है कि उन को थोड़ा ही दण्ड देकर स्वीकार करें। यदि मांसाहारी लोग इस में अपनी हतक समझें तो यह उन की भूल है क्योंकि वास्तव में इसी कर्त्तव्य से उन की योग्यता वा प्रतिष्ठा अधिक हो सकती है। और जब मांसाहारी लोग अपने अपराध को अपराध ही नहीं मानते तब वे छोड़ने की प्रतिज्ञा क्यों कर सकते हैं? और क्यों छोड़ सकते हैं ऐसी दशा में मांसाहारियों को फलाहारी लोग अपने समाज से अलग न करना चाहें तो भी वे अवश्य अलग हो जायेंगे क्योंकि सृष्टिक्रम के अनुसार जैसे रात्रि दिन, शीत उष्ण, राग द्वेष, धर्म अधर्म आदि अत्यन्त विरुद्ध गुण एक साथ एक काल में नहीं रह सकते वैसे ही दैवी और आसुरी प्रकृति वाले मनुष्यों का मेल कदापि नहीं निभ सकता। केवल जगत् में एक मांसाहार ही आसुरी प्रकृति का काम नहीं किन्तु जगत् के अच्छे बुरे सब काम दो ही प्रकारों में आजाते हैं कुछ आसुरी

प्रकृति में कुछ दैवी प्रकृति में । इसी कारण मनुष्यादि प्राणियों के मेल न रहने में मांसाहार को छोड़ के अन्य भी बहुत काम हैं जिन के कारण विरोध रहता वा रह सकता है परन्तु कोई काम किसी समय विरोध में प्रधान कारण बन जाता है । यहां भी प्रारम्भ में मांस भक्षण प्रधान हेतु हो गया है । उपदेशक जी की यह बड़ी भारी भूल है कि "मद्य पीने वा पुंसिमैथुन करने वालों की आर्यसमाज में प्रतिष्ठा है और मांसाहारियों की निन्दा होती है" क्योंकि आर्यसमाज में क्या मेरा निश्चय है कि किसी समुदाय में ऐसों की प्रतिष्ठा नहीं। आर्यसमाज में तो किसी बुराई की प्रतिष्ठा नहीं सभी अनर्थों के हटाने का उद्योग यथासम्भव किया जाता है । यही आर्यसमाज का परम सिद्धान्त है । यदि यह आशय हो कि मद्य पीने वाले आदि कोई मनुष्य समाज में होने सम्भव हैं और वे निकाले नहीं गये वा उन के निकालने का उद्योग नहीं किया जाता तो इस का उत्तर यह है कि अभी तक मद्य पानादि को अच्छा काम ठहराने का किसी ने कोई उद्योग भी नहीं किया न कोई पुस्तक बनाया है । न वे कहीं अब तक ऐसे काम को प्रसिद्ध अच्छा कह कर करने लिये साहस बांधते हैं जिस से आशा है कि वे लोग वैसे कामों से स्वयं लज्जित हैं इसी से छोड़ देना सम्भव है। यदि कभी मद्यादि का पक्ष लेकर कोई खड़ा होगा तो वह मांसाहारियों का ही आश्रय ले सकता है किन्तु आर्यसमाज में ऐसे मनुष्य कदापि नहीं ठहर सकते । अर्थात वे सब आप के ही साथी वास्तव में होंगे ॥

मां०-जग्ध्वामांसमभक्ष्यंचसप्तरात्रंयवान् पिबेत् ॥

शूकरादि के अभक्ष्य मांस को खाकर सात रात्रि जौ पीवे यह प्रायश्चित्त है ।

नो०-यहां भी अभक्ष्य मांस के भक्षण का प्रायश्चित्त तो कहा है मांस भक्षण का नहीं कहा ॥

उ०-उपदेशक जीने अर्थ बदलने के लिये यहां एक चालाकी की है परन्तु जिन को थोड़ा भी संस्कृत विद्या में प्रवेश होगा वे इस चाल को झट समझ सकेंगे कि "मांसम्-अभक्ष्यं च जग्ध्वा" अर्थात् सीधा अर्थ है कि मांस और अन्य अभक्ष्य वस्तु को कोई खा लेवे तो सात दिन यव घोल कर पीना प्रायश्चित्त करे यदि यहां अभक्ष्य शब्द मांस का विशेषण हो तो "च" पढ़ना व्यर्थ हो जावे । संस्कृत में "च" अव्यय भाषा के "और" शब्द के स्थान में आता है । जैसे कोई भाषा में कहे कि "मांस और अभक्ष्य को खा कर" यहां अभक्ष्य और मांस दोनों एक वस्तु के नाम नहीं हो सकते वैसे वहां भी जानों । इन की बड़ी अविद्या यह है कि इतने पर भी इन्होंने कुछ अपना पक्ष सिद्ध नहीं कर लिया । अस्तु अब हम इस द्वितीय भाग पुस्तक का खण्डन लिखना समाप्त करते हैं और विचारपूर्वक देखने वालों को इसी लेख में उन अंशों का भी उत्तर मिल जायगा कि जिन पर प्रसिद्ध में मैंने कुछ नहीं लिखा हो ।

इति ॥

पुस्तकों की सूची॥

यमयमीसूक्तम् =) प्रबन्धार्कोदय ।-) नया छपा है आर्य्य धर्म की शिक्षा के साथ मिडिलक्लास की परीक्षा देने वाले छात्रों को उत्तम २ प्रबन्ध लिखना सिखाता है॥ आयुर्वेद-शब्दार्णव (कोष) ॥=) मनुस्मृतिभाष्य की भूमिका १॥) छा-कव्यय =)॥ पुस्तक रायल पुष्ट कागज़ में ३६४ पेज का छपा है॥ ईश उपनि० भाषा वा संस्कृत भाष्य ≡) केन ।) कठ ।।।) प्रश्न ॥=) मुण्डक ।।।) माण्डूक्य≡) तैत्तिरीय ।।।) इन ७ उपनिषदों पर सरल संस्कृत तथा देव नागरी भाषा में टीका लिखी गयी है कि जो कोई एकबार भी इस को नमूना (उदाहरण) मात्र देखता है उस का चित्त अवश्य गढ़ जाता है। सातों इकट्ठा लेने वालों को ३) ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ये छः उपनिषद् छोटे गुटकाकार में बहुत शुद्ध मूल भी छपे हैं मूल्य =) तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, और मैत्र्युपनिषद् ये चार उपनिषद् द्वितीय गुटका में ≡) गणरत्नमहोदधिः १॥) आर्य्यसिद्धान्त ७ भाग ८४ अङ्क एक साथ लेने पर ४।=) और फुटकर लेने पर प्रति भाग ।॥) ऐतिहासिक निरीक्षण =) ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दुपराभे प्रथमोंशः -)॥ तथा द्वितीयोंशः -)।।। विवाहव्यवस्था =) तीर्थविषय (गङ्गादि तीर्थ क्या हैं) -)॥ द्वैताद्वैतसंवाद (जीवब्रह्म पर) -)॥ सद्विचारनिर्णय -) ब्राह्ममतपरीक्षा =) अष्टाध्यायी मूल ≡) न्यायदर्शन मूल सूत्रपाठ ≡) देवनागरीवर्णमाला)। यज्ञोपवीतशङ्कासमाधि -) संस्कृतप्रवेशिका =)॥ संस्कृत का प्रथम पु० पांचवींवार छपा)।। द्वितीय तीसरी वार छपा -)। तृतीय फिर से छपा =)।।। भर्तृहरिनीतिशतक भाषा टीका ≡) चाणक्यनीति मूल)॥ बालचन्द्रिका (बालकों-को) -) गणितारम्भ (बालकोंको) -)॥ अङ्कगणितमय्येमा ≡)॥